

चर्चासागर के बड़े भाई की जाँच अर्थात् सूर्यप्रकाश-परीक्षा प्रास्ताविक निवेदन

आजकल ‘चर्चासागर’ ग्रन्थ जैनसमाज में सर्वत्र चर्चा का विषय बना हुआ है और सब ओर से उसका भारी विरोध हो रहा है। ऐसे ग्रन्थ के इस विरोध को देखकर मेरी प्रसन्नता का होना स्वाभाविक है, क्योंकि आज से कोई अठारह वर्ष पहले मैंने अन्धश्रद्धा की नींद में पड़े हुए जैनसमाज को जगाने और उसमें विचारस्वातन्त्र्य तथा तुलनात्मक पद्धति से ग्रन्थों के अध्ययन को उत्तेजन देने के लिए ग्रन्थों की परीक्षा के (उनके विषय में गहरी जाँचपूर्वक स्पष्ट घोषणा करने के) जिस भारी काम को प्रारम्भ किया था, और जो कई साल तक जारी रहा, वह आज कुछ विशेष रूप से फलित होता हुआ नजर आता है। उस वक्त आम तौर पर विद्वानों तक में इतना मनोबल और साहस नहीं था कि वे जैन की मुहर लगे हुए और जैन मन्दिरों के शास्त्र भण्डारों में विराजित किसी भी ग्रन्थ के विरोध में प्रकट रूप से कोई शब्द कह सकें। और तो क्या, मेरे परीक्षालेखों को पढ़कर और उन पर से यह जानकर भी कि ये ग्रन्थ धूर्तों के रचे हुए, जाली तथा बनावटी हैं बहुतांश को उन पर अपनी स्पष्ट सम्मति देने की हिम्मत तक नहीं हुई थी। यद्यपि उसे अच्छी जाँच-पड़तालपूर्वक देने के लिये मैंने बारबार विद्वानों से निवेदन भी किया था। इसी से तत्कालीन ‘जैनहितैषी’ पत्र के सम्पादक प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित नाथूराम जी प्रेमी ने कोई चार वर्ष बाद सितम्बर १९१७ में मेरे कुछ परीक्षालेखों को पुस्तकाकार छपाते हुए लिखा था कि—

“इन लेखों ने जैनसमाज को एक नवीन युग का सन्देश सुनाया है और अन्धश्रद्धा के अन्धेरे में पड़े हुए लोगों को चकाचौंधा देने वाले प्रकाश से जागृत कर दिया है। यद्यपि बाह्य दृष्टि से अभी तक इन लेखों का कोई स्थूल प्रभाव व्यक्त नहीं हुआ है, तो भी विद्वानों के अन्तरंग में एक शब्दहीन हलचल बराबर हो रही है, जो समय पर कोई अच्छा परिणाम लाये बिना नहीं रहेगी।”

प्रेमी जी की उक्त भविष्यवाणी क्रमशः सत्य होती जाती है। इस विषय में विद्वानों का वह संकोच बराबर दूर हो रहा है और वे परीक्षाप्रधानता तथा स्पष्टवादिता को अपनाते जाते हैं। और इसीलिये आज संख्याबद्ध विद्वान् तथा दूसरे प्रतिष्ठित सज्जन ‘चर्चासागर’ को लेकर ऐसे दूषित ग्रन्थों का विरोध करने के लिए मैदान में आ गये हैं। यह सब उन परीक्षालेखों से होनेवाली उस शब्दहीन हलचल का ही परिणाम है जिसे प्रेमी जी ने उस वक्त अनुभव किया था। और इसी से आज ‘जैनजगत्’ के सहसम्पादक महाशय अपने २३ नवम्बर के पत्र में लिख रहे हैं कि—

“‘चर्चासागर’ के सम्बन्ध में जैन समाज में जो चर्चा चल रही है, उसमें प्रत्यक्षरूप से यद्यपि आप भाग नहीं ले रहे हैं, किन्तु वास्तव में इसका सारा श्रेय आपको है। यह सब आपके उस परिश्रम

का फल है जो आज से करीब १०-१२ वर्ष पहले से आप करते आ रहे हैं। जिस बात के कहने के लिये उस समय आपको गालियाँ मिली थीं, वही आज स्थितिपालक दल के स्तम्भों द्वारा कही जा रही है।”

जिन्होंने मेरी ग्रन्थ-परीक्षाओं तथा दूसरी विवेचनात्मक पुस्तकों को पहले से नहीं देखा था, उन विद्वानों में से एक प्रसिद्ध न्यायतीर्थ जी हाल में ग्रन्थ परीक्षा के तृतीय भाग (सोमसेन त्रिवर्णाचार की परीक्षा) और “विवाह क्षेत्र प्रकाश” को पढ़कर अपने १६ नवम्बर के पत्र में लिखते हैं कि—

“आपकी इन पुस्तकों को पढ़कर बड़ा ही आनन्द आता है। यह सब पुस्तकें विद्यार्थी-जीवन में ही पढ़ लेना चाहिए थीं, मगर दुःख का विषय है कि उन पांजरापोलों या काँजी हाउसों (कानी भौतों) में विद्यार्थियों को ऐसे साहित्य का भान भी नहीं कराया जाता है। मेरी प्रबल इच्छा है कि आपकी और प्रेमी जी की तमाम रचनायें पढ़ जाऊँ। क्या आप नाम लिखने की कृपा करेंगे?...खेद है कि सामाजिक संस्थाओं में हम लोग इन ज्ञानव्यापक बनाने वाली पुस्तकों से बिल्कुल अपरिचित रखे जाते हैं। इसीलिये विद्यार्थी ढब्बू निकलते हैं।”

इसी तरह पर दूसरे विद्वान् भी चर्चा के इस वातावरण में अपने लेखादिकों के द्वारा उन ग्रन्थ परीक्षाओं का अभिनन्दन कर रहे हैं, तथा आर्यसमाज के साथ के शास्त्रार्थों तक में कुछ जैन पण्डितों को यह घोषित कर देना पड़ा है कि हम इन त्रिवर्णाचार जैसे ग्रन्थों को प्रमाण नहीं मानते हैं। कुछ विद्वानों ने तो जिनमें दो न्यायतीर्थ भी शामिल हैं, चर्चासागर की भी साङ्गोपाङ्ग परीक्षा कर देने की मुझे प्रेरणा की है और यह सब उन परीक्षा लेखों की सफलता को लिये हुए भावी का एक अच्छा शुभ लक्षण जान पड़ता है। अतः मेरे लिये एक प्रकार से आनन्द का ही विषय है और मुझे ग्रन्थपरीक्षा का जो राजमार्ग खुला है, उस पर बहुतों को चलते तथा चलने के लिये उद्यत देखकर निःसन्देह प्रसन्नता होती है।

परन्तु साथ ही यह देखकर आश्चर्य के साथ कुछ खेद भी होता है कि लोग इस चर्चासागर के विरुद्ध जितना टूटकर पड़े हैं, उसका शतांश भी वे उन त्रिवर्णाचार (धर्मरसिक) आदि ग्रन्थों का विरोध नहीं कर रहे हैं जिनके आधार पर इस ग्रन्थ में धर्मविरुद्ध तथा आपत्तिजनक विषयों को चर्चित किया गया और विधेय ठहराया गया है। क्या विषवृक्ष के मूल में कुठाराघात न करके उसे सींचते रहने और बनाये रखने पर यह आशा की जा सकती है कि उसमें पत्र-पुष्पादि का प्रादुर्भाव नहीं होगा? कदापि नहीं। जब तक इन दूषित मूलग्रन्थों का अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहेगा अथवा उनकी भूमि पर अन्धश्रद्धा का वृक्ष लहलहाता रहेगा, तब तक ऐसे असंख्य चर्चासागर रूपी पत्र पुष्पों की उत्पत्ति को कोई रोक नहीं सकता। इसमें बेचारे उन अन्धश्रद्धालुओं का विशेष अपराध भी क्या कहा जा सकता है, जो उपलब्ध ग्रन्थों पर से कुछ विषयों की चर्चाओं का संग्रह करते हैं, जबकि उन ग्रन्थों के विषय में उनके भीतर यह रूह (स्परिट) फूँकी गई है कि वे सब जिनवाणी हैं और इसलिए उन पर सदेह करना अथवा उनके विरुद्ध विचार करना अधर्म तथा मिथ्यात्व है। यह सब अपराध ऐसी मिथ्या रूह (चेतना)

फूंकने वाले ग्रन्थकर्ताओं तथा उनके प्रचारकों आदि का है, और कुछ उनका भी है जो यह जानते हुए भी कि ये ग्रन्थ विषमिश्रित हैं, धर्मविरुद्ध कथनों से भरे हुए हैं, उनके विषय में चुप्पी साधे हुए हैं, उनसे जनता को सावधान करने की हिम्मत नहीं रखते हैं अथवा उन पर “विष है” ऐसा लेबल लगाने में प्रमाद करते हैं। क्या जो लोग यह जानते हुए भी कि अमुक सिक्का, अथवा नोट जाली है, उसे चलने देते हैं, वे दूसरों के ठगाये जाने में मदद नहीं करते हैं? जरूर करते हैं और इसलिये अपराधी हैं।

यह ठीक है कि ग्रन्थकार पण्डित चम्पालाल जी ने अनेक स्थानों पर अर्थ का अनर्थ किया है, चालाकी से काम लिया है और कितनी ही विरुद्ध बातें अपनी तरफ़ से भी ऐसी जोड़ दी हैं जिनका कोई प्रमाण नहीं दिया गया, ऐसा ग्रन्थ से जान पड़ता है। परन्तु जो मुद्रित ग्रन्थ हमारे सामने हैं, वह अपने मूलरूप में नहीं किन्तु भाषा के परिवर्तनादि को लिये हुए है। हो सकता है कि इसमें उन भाषापरिवर्तक तथा सम्पादक महाशयों की भी कुछ लीला शामिल हो गई हो, जिन्हें अपना नाम देने तक में संकोच हुआ है, जिनके नाम पीछे से पत्रों में कुछ रहस्य के साथ प्रकट हो रहे हैं^१ और जिन्होंने अपने कर्तव्य के पालन में यहाँ तक उपेक्षा तथा आनाकानी की है कि पब्लिक को इतनी भी सूचना नहीं दी कि इस ग्रन्थ की भाषा परिवर्तित की गई है तथा इसके सब फुटनोट उनकी अपनी कृति हैं—ग्रन्थकर्ता की नहीं। और इसलिए उन्होंने पब्लिक को एक प्रकार से धोखे में रखा है और यह सब उनके नैतिक बल की त्रुटि का अच्छा सूचक है तथा उनके विषय में काफ़ी सन्देह पैदा करता है। ऐसी हालत में जब तक ग्रन्थ की हस्तलिखित कापी अपने असली (अपरिवर्तित) रूप में सामने न हो अथवा उस पर से कोई निष्पक्ष विद्वान् अपनी जाँच की रिपोर्ट प्रकट न करे तब तक पण्डित चम्पालाल जी पर किसी विषय का सीधा आरोप नहीं लगाया जा सकता है।

हाँ, यदि यह मान लिया जाये और जाँच से साबित हो जाये, जिसकी अधिकांश में सम्भावना है, कि मात्र भाषापरिवर्तन के सिवाय ग्रन्थ में दूसरा कोई खास गोलमाल नहीं हुआ है, फुटनोट बेशक सम्पादकादिक के लगाये हुए हैं, तो पण्डित चम्पालाल जी ने जितने अंशों में जानबूझकर अर्थ अनर्थादि किया है, कुछ विरुद्ध तथा अनर्थकारी बातों को यों ही अपनी तरफ़ से जोड़ा है अथवा किसी कषायवश दूषित साहित्य को इस तरह पर प्रचार देने का यतन किया है, उतने अंशों में वे इस विषय के विशेष अपराधी जरूर हैं। और तब यह उनकी अक्षम्य धृष्टता है जो वे इस ग्रन्थ के सब कथनों को ‘भगवान् अरहन्त की आज्ञानुसार’ बतलाते हैं और इसे ‘जिनवाणी’ प्रतिपादित करते हैं।

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी इतना तो स्पष्ट है कि ‘चर्चासागर’ नाम का जो मुद्रित ग्रन्थ हमारे सामने हैं, उसमें ‘त्रिवर्णाचार’ तथा ‘धर्मरसिक’ नाम से बहुत से धर्मविरुद्ध कथन पाये जाते

१. इसे ढूँढारी भाषा से हिन्दी में परिवर्तित करने वालों में पण्डित लालाराम जी का और इसके प्रधान सम्पादकों तथा प्रचारकों में उनके भाई पण्डित नन्दनलालजी का नाम प्रकट हुआ है, जो इस समय ब्र० ज्ञानचन्द्रजी के रूप में थे और अब शुल्लक ज्ञानसागरजी के रूप में मुनिसंघ में उपस्थित हैं।

हैं और वे सब 'सोमसेन त्रिवर्णाचार' में मौजूद हैं, जिसे 'धर्मरसिक' भी कहते हैं और जिसमें धर्मविरुद्ध कथन बहुत कुछ कूट-कूट कर भरे हुए हैं, जिनका बहुत कुछ पता ग्रन्थ की उस विस्तृत परीक्षा से सहज ही में चल सकता है जो ग्रन्थ परीक्षा के तृतीय भाग में २६६ पृष्ठों में दर्ज है। इसी तरह 'उमास्वामि श्रावकाचार' आदि दूसरे जाली तथा अर्द्धजाली ग्रन्थों के प्रमाणों का हाल है। इन मिथ्यात्वपोषक तथा अन्धश्रद्धा के गढ़रूप मूल ग्रन्थों का पूर्णतया विरोध न करके उनकी कुछ चर्चाओं को संग्रह करने वाले ग्रन्थ का विरोध करना क्या अर्थ रखता है, यह मेरी कुछ समझ में नहीं आता। और इसीलिये ऐसे एकांगी विरोध को देखते हुए मुझे कुछ आश्चर्य होता है।

'सोमसेन-त्रिवर्णाचार' के दो संस्करण हो चुके-एक में वह मराठी टीकासहित प्रकाशित हुआ और दूसरे में हिन्दी टीकासहित। जगह-जगह मन्दिरों में उसकी कापियाँ पाई जाती हैं और उसे भी दूसरे ग्रन्थों के साथ नित्य अर्घ्य चढ़ाया जाता है। यह सब विष-वृक्षों को सींचना और उसे बनाये रखना नहीं तो और क्या है?

अतः चर्चासागर के विरोध में लेखनी उठाने वालों का यह पहला कर्तव्य होना चाहिए कि वे उन ग्रन्थों का खुला विरोध करें, जिनके आधार पर वस्तुतः धर्मविरुद्ध कथनों अथवा आपत्तिजनक विषयों को ग्रन्थ में चर्चित और प्रतिपादित किया गया है। उनमें से जिन ग्रन्थों की परीक्षाये अभी तक नहीं हो पाई हैं^२ उनकी पूरी जाँच तथा सांगोपांग परीक्षा का भी अपनी शक्तिभर पूरा यत्न करना और कराना चाहिए, जिससे सर्वसाधारण उनके स्वरूपादि से भले प्रकार परिचित हो सकें और उनके विषय में जिनवाणीत्व की जो मिथ्या रूह उनके भीतर फूँकी हुई है कि वह निकलकर, उनकी श्रद्धा का सुधार हो सके।

मेरा विचार "चर्चासागर" जैसे ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी प्रायः वही है, जिसे मैं अपनी ग्रन्थपरीक्षाओं में आम तौर पर और "सोमसेन-त्रिवर्णाचार" की परीक्षा के अन्त में खास तौर पर प्रकट कर चुका हूँ। मैं ऐसे ग्रन्थों को जैनग्रन्थ नहीं, किन्तु जैनग्रन्थों के कलंक समझता हूँ। इनमें रत्नकरण्ड श्रावकाचारादि जैसे कुछ आर्ष ग्रन्थों के वाक्यों का जो संग्रह किया गया है, वह ग्रन्थकर्ताओं की एक प्रकार की चालाकी है, धोखा है, मुलम्मा है अथवा विरुद्ध कथनरूपी जाली सिक्कों को चलाने आदि का एक साधन है। उन्होंने उनके सहारे से अथवा उनकी ओट में उन मुसलमानों की तरह अपना उल्लू सीधा करना चाहा है, जिन्होंने भारत पर आक्रमण करते समय गौओं के एक समूह को अपनी सेना के आगे कर दिया था। और जिस प्रकार गोहत्या के भय से हिन्दुओं ने उन आक्रमण नहीं किया था उसी प्रकार शायद आर्षवाक्यों की अवहेलना का कुछ खयाल करके

२. निम्नलिखित ग्रन्थों की विस्तृत परीक्षाये लेखक द्वारा हो चुकी हैं और उन्हें 'जैनग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बम्बई' ने तीन भागों में प्रकाशित किया है, जो सब पढ़ने तथा ऐसे दूषित साहित्य के विरोध में प्रचार करने के योग्य हैं- १. उमास्वामी-श्रावकाचार, २. कुन्दकुन्दश्रावकाचार, ३. जिनसेन-त्रिवर्णाचार, ४. भद्रबाहु-संहिता, ५. सोमसेन-त्रिवर्णाचार, ६. धर्मपरीक्षा (श्वेताम्बर)।

उन जैन विद्वानों ने, जिनके परिचय में ऐसे ग्रन्थ अब तक आते रहे हैं, उनका जैसा चाहिए वैसा विरोध नहीं किया है। परन्तु आर्षवाक्य और आर्षवाक्यों के अनुकूल कहे गये दूसरे प्रतिष्ठित विद्वानों के वाक्य अपने-अपने स्थान पर माननीय तथा पूजनीय हैं, धूर्त लोगों ने उन्हें जैनधर्म, जैनसिद्धान्त, जैननीति तथा जैन-शिष्टाचार आदि से विरोध रखनेवाले और जैन-आदर्श से गिरे हुए कथनों के साथ में गूँथकर अथवा मिलाकर उनका दुरुपयोग किया है और इस तरह ऐसे समूचे ग्रन्थों को विषमिश्रित भोजन के समान बना दिया है, जो त्याग किये जाने के योग्य होता है। विषमिश्रित भोजन का विरोध जिस प्रकार भोजन का विरोध नहीं कहलाता उसी तरह पर ऐसे ग्रन्थों के विरोध को भी आर्षवाक्यों अथवा जैनशास्त्रों का विरोध या उनकी कोई अवहेलना नहीं कहा जा सकता। अतः विद्वानों तथा दूसरे विवेकी जनों को ऐसे ग्रन्थों के विरुद्ध अपना विचार प्रकट करने में जरा भी संकोच न होना चाहिए, संकोच से उन्हें ऐसे ग्रन्थों द्वारा होने वाले अनर्थ का भागी होना पड़ेगा। अस्तु।

अब मैं पाठकों तथा समाज का ध्यान एक दूसरी ओर आकर्षित करना चाहता हूँ और वह है “चर्चासागर का बड़ा भाई”। मुनि शान्तिसागर जी के संघ की असीम कृपा से जहाँ हमें ‘चर्चासागर’ जैसे ग्रन्थरत्न की प्राप्ति हुई है, वहाँ प्रसाद रूप में एक दूसरा अपूर्व ग्रन्थ और भी मिला है, जिसका नाम है ‘सूर्यप्रकाश’। दोनों का उद्गम स्थान एक ही संघ और दोनों के निर्माण तथा प्रकाशनादि में एक ही मुख्य स्फिरिट (मनोवृत्ति) अथवा उद्देश्य के होने से इन्हें भाई-भाई कहना तो सार्थक है ही, परन्तु ‘सूर्यप्रकाश’ को चर्चासागर का बड़ा भाई कहना तो और भी सकारण है। क्योंकि—

(१) एक तो यह (सूर्यप्रकाश) चर्चासागर से कोई डेढ़ वर्ष बड़ा है, इसका जन्म जब विक्रम संवत् १९०९ के श्रावण मास में हुआ है, तब चर्चासागर ने वि०सं० १९१० के माघ मास में अवतार लिया है।

यहाँ पर किसी को यह आशंका नहीं करनी चाहिए कि चर्चासागर में तो उसका निर्माणकाल वि०सं० १८१० दिया हुआ है। यह सब अपना नाम गुप्त रखनेवाले यार लोगों की चालाकी है। उन्होंने ग्रन्थ को वृद्धता का कुछ मान देने के लिए उसकी आयु में एक दम १०० वर्ष की वृद्धि कर दी है। अन्यथा, ग्रन्थ में संवत् जिन ‘दिग हरि चन्द्र’ शब्दों में दिया हुआ है, उनका स्पष्ट अर्थ १९१० होता है, फुट नोट लगाने वालों ने दिग, हरि और चन्द्र पर क्रमशः ६, ७, ८ डालकर फुटनोट में उनका अर्थ देते हुए ‘दिशाये दश हैं’, ‘चन्द्र एक को कहते हैं’ इतना तो लिखा है, परन्तु हरि अर्थात् नारायण ८ होते हैं या ९ ऐसा कुछ लिखा नहीं। ‘हरि’ शब्द का अर्थ बिल्कुल ही छोड़ दिया है और वैसे ही गोलमाल करते हुए लिख दिया है कि—

“इन सबके मिलाने से तथा अङ्कानां वामो गतिः अर्थात् अङ्कों की गति बाँई ओर को होती है इस न्याय से १८१० है। अर्थात् विक्रम संवत् १८१० में यह ग्रन्थ बना।”

यह चालाकी नहीं तो और क्या है? ग्रन्थ में तो २२९वीं चर्चा के अन्तर्गत, पृ. ४५७ पर, भीष्म पन्थ की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए, उसका स्पष्ट संवत् “अठारह सौ तेईस को साल” तक दिया

हुआ है, तब यह ग्रन्थ १८१० में कैसे बन सकता है, इसे पाठक स्वतः समझ सकते हैं।

और 'सूर्यप्रकाश' में तो इस विषय की चालाकी और भी बड़ी-चढ़ी है। उसमें अनुवादक-सम्पादक ब्र. ज्ञानचन्द्रजी (वर्तमान क्षुल्लक ज्ञानसागरजी) ने निर्माणकाल विषयक श्लोक का अर्थ ही नहीं दिया, जबकि उसी प्रकार के बीसियों संख्यावाचक श्लोकों का ग्रन्थ में अर्थ दिया गया है। और मजा यह है कि अर्थ न देने का कोई कारण भी नहीं बतलाया और न उसके छोड़ने की कोई सूचना ही की गई है। लाचार ग्रन्थप्रकाशक सेठ रावजी सखाराम दोशी से उनके भूमिकात्मक दो शब्दों में यह कहलाया गया है कि "अन्त में जो निर्माणकाल बताया है उसका अर्थ अस्पष्ट है। इसलिये पाठक उसको ध्यान से पढ़ें और मनन करें।" परन्तु अर्थ तो कुछ दिया ही नहीं गया जिसके विषय में अस्पष्टता की प्रकाशक महाशय खुद कुछ कल्पना करता और श्लोक का पाठ कुछ अस्पष्ट है नहीं, वह तो अपने स्पष्ट रूप में इस प्रकार है—

अंकाभ्रनन्देन्दु प्रमे हि चाब्दे मित्राद्रि-शैलेन्दु-सुशाकयुक्ते।

मासे नभाख्ये शुभनन्दघस्त्रे विरोचनस्यैव सुवारके हि॥

और इस श्लोक पर से स्पष्ट जाना जाता है कि यह ग्रन्थ 'वि०सं० १९०९ तथा शक सं० १७७४ के श्रावण मास में शुक्ल नवमी के दिन रविवार को' बनकर समाप्त हुआ है। अगले दो श्लोकों में, जिनका अर्थ निरंकुशता-पूर्वक कुछ घटा-बढ़ाकर^३ दिया गया है, ग्रन्थ के द्रोणीपुर के पार्श्वनाथ-जिनालय में समाप्त होने की सूचना समय, नक्षत्र और योग के नामोल्लेखपूर्वक की गई है, साथ ही कुछ आशीर्वाद भी दिया गया है।

इस सारी स्थिति पर से ऐसा मालूम होता है कि उक्त श्लोक का अर्थ न देने में अनुवादकादि का यह खास आशय रहा है कि सर्वसाधारण पर यह बात प्रकट न होने पाये कि ग्रन्थ इतना अधिक आधुनिक है, अर्थात् इस बीसवीं शताब्दी का ही बना हुआ है।

(२) दूसरे, छपकर प्रकाशित भी यह ग्रन्थ चर्चासागर से एक वर्ष एक महीना पहले हुआ है। यह अगस्त १९२९ में मुद्रित और प्रकाशित है तो वह सितम्बर १९३० में।

(३) तीसरे, नाम माहात्म्य की दृष्टि से भी सूर्यप्रकाश बड़ा है, जो सागर के भी ऊपर रहता है। अनेक सागरों को प्रकाशित करता है और जिसके बिना सब कुछ अन्धकारमय है।

(४) चौथे, इसकी मूल रचना गीर्वाणभाषा संस्कृत में हुई है जो कि सब आर्यभाषाओं में बड़ी है, जबकि चर्चासागर आधुनिक हिन्दी भाषा का ग्रन्थ है। उसमें संस्कृतादि के वाक्यों को इधर-उधर से उधार लेकर रखा गया है। प्रकाशक महाशय ने इसके कुछ अशुद्ध प्रयोगों को प्रचलित संस्कृत व्याकरण तथा कोष-सम्मत न देखकर जो उसे 'अपभ्रंश' भाषा का ग्रन्थ मान लेने की सलाह दी है, वह निरर्थक है। जान पड़ता है वे अपभ्रंश भाषा के स्वरूप से बिल्कुल ही अनभिज्ञ हैं। अच्छा होता यदि वे उनके विषय में आर्ष प्रयोगों की कल्पना कर डालते और इस तरह पर ग्रन्थकार की त्रुटियों

३. यह निरंकुशता अनुवाद में सर्वत्र पायी जाती है।

को महत्त्व का रूप दे देते।

(५) पाँचवें, 'सूर्यप्रकाश' पर आचार्य शान्तिसागरजी की प्रशंसा की मुहर लगी हुई है, जिससे प्रेरित होकर ही द्रव्यदाताओं ने (गाँधी नेमचन्द मियाचन्द आदि तीन भाइयों ने) उसके उद्धार के लिये धन खर्च किया है, जबकि 'चर्चासागर' पर वैसी कोई मुहर नहीं है। हाँ बाद को 'जैनजगत्' में प्रकाशित सेठ गम्भीरमल जी पाण्ड्या के वक्तव्य से मालूम हुआ कि उनसे उसकी प्रशंसा करनेवाले और उसे 'महान् उपयोगी' बतलाने वाले ब्र. ज्ञानचन्द्रजी तथा क्षुल्लक चन्द्रसागरजी थे। उन्हीं की प्रेरणा तथा उपदेश से उन्होंने उसके प्रकाशनार्थ द्रव्य दान किया था और ये दोनों ही शान्तिसागरजी के शिष्य हैं। अतः शिष्य-प्रशंसित की अपेक्षा गुरु-प्रशंसित को स्वभावतः ही बड़प्पन की प्राप्ति है। शायद इसी से उक्त ब्र. ज्ञानचन्द्र जी ने जो ग्रन्थ के अनुवादक भी हैं, सम्पादक के तौर पर ग्रन्थ पर अपना नाम देना गौरव की वस्तु समझा है। जबकि 'चर्चासागर' का सम्पादन करने पर भी उन्हें उस पर अपना नाम किसी रूप में भी देने में संकोच हुआ है।

(६) छठे, 'चर्चासागर' की कोई क्रीमत नहीं है, वह यों ही मुफ्त बँटता फिरता है। जबकि 'सूर्यप्रकाश' पर सेठों द्वारा द्रव्य की सहायता प्राप्त होने पर भी २ रुपये क्रीमत दर्ज है और इसीलिये दो रुपये उसकी भेंट करने पड़ते हैं, जो सम्भवतः उसकी बड़ाई का चिह्न है।

(७) सातवें, 'सूर्यप्रकाश' में सबसे अधिक बड़प्पन की बात यह है कि वह 'चर्चासागर' की अपेक्षा अधिक तथा गहरे प्रपञ्च को लिये हुए है! उसमें सबकुछ अपना इष्ट जैसे तैसे भविष्य-वर्णन के रूप में भगवान् महावीर के मुख से कहलाया गया है, श्वेताम्बरों, ढूँढियों, तेरहपंथियों और सुधारकों आदि को भरपेट गालियाँ भी उन्हीं के श्रीमुख से दिलाई हैं! और इसलिये वह सोलहों आने जिनवाणी है। खुद ग्रन्थकार ने उसका विशेषण भी 'जिनवक्तव्य' अर्थात् जिनमुखोत्पन्न दिया है। जबकि 'चर्चासागर' के विधाता ने इधर-उधर की नई-पुरानी चर्चाएँ करते हुए जो कुछ बुरा-भला कहा है वह सब अपने शब्दों में कहा है और उसके प्रमाण में यथासम्भव दूसरे ग्रन्थों के वाक्यों को उद्धृत किया है जो जैनाचार्यों, भट्टारकों, जैनपण्डितों तथा धूर्तों और अजैन विद्वानों तक के बनाये हुए हैं। इसीलिये चर्चासागर को पूरे तौर पर जिनवाणी का दर्जा प्राप्त नहीं है।

इस तरह पर 'सूर्यप्रकाश' को मैंने चर्चासागर का बड़ा भाई निश्चित किया है। इसका दर्शन-सौभाग्य मुझे हाल में ही प्राप्त हुआ है। बम्बई से सुहृद् पण्डित नाथूराम जी प्रेमी ने इसे रजिस्ट्री कराकर मेरे पास भेज दिया है और साथ ही यह अनुरोध किया है कि मैं इसकी परीक्षापूर्वक कुछ विशेष आलोचना कर दूँ, जिससे इसके द्वारा जो अनर्थ फैलाया जा रहा है, वह रोका जा सके। आते ही दो तीन दिन के भीतर मैंने इस ४१२ पृष्ठ के सानुवाद मोटे ग्रन्थ पर सरसरी तौर पर एक नजर डाली और उस पर से यह ग्रन्थ मुझे बहुत कुछ निःसार, अनुदार, प्रपञ्ची तथा असम्बद्धप्रलापी जान पड़ा। साथ ही, यह भी जान पड़ा कि अनुवादक महाशय ने इच्छानुकूल उलटा-सीधा तथा प्रपञ्चमय अर्थ कर ग्रन्थ के इन गुणों को और भी बढ़ा दिया है और उसके विषय में 'एक तो करेला दूसरे नीमचढ़ा' की

कहावत को चरितार्थ किया है। और इसलिये मैंने इस ग्रन्थ की विशेष आलोचना का निश्चय किया।

यह 'सूर्यप्रकाश' पण्डित नेमिचन्द्र का बनाया हुआ है। ग्रन्थ के अन्त में उनकी एक प्रशस्ति भी लगी हुई है, जिससे मालूम होता है कि चम्पावतीपुर में स्वर्णकीर्ति नाम के कोई सूरि (भट्टारक) थे, उनके शिष्य राजमल्ल, राजमल्ल के शिष्य फतेचन्द्र, फतेचन्द्र के शिष्य वृन्दावन, वृन्दावन के शिष्य सीताराम और सीताराम के शिष्य शिवजीराम हुए, तो पहले कुछ वर्ष चम्पावतीपुर में रहे, फिर तक्षपुर में रहने लगे और अन्त को वहाँ से भी चलकर द्रोणी (दूनी) पुर में आ बस। उन्हीं पण्डित शिवजीराम के ग्रन्थकार महाशय शिष्य थे।

ये सब शिष्य-प्रशिष्यजन और पण्डित चम्पालाल जी प्रायः उसी समय की पौध हैं, जबकि भट्टारकीय लीलाओं के विरोधरूप दिगम्बर तेरहपंथ अच्छी तरह से उत्पन्न हो चुका था, अपना विस्तार कर रहा था और भट्टारकानुयायियों तथा तेरहपंथियों में द्वन्द्व युद्ध चल रहा था। चर्चासागर और सूर्यप्रकाश दोनों उसी समय की स्फिरिट (मनोवृत्ति) को लिये हुए हैं और उसी युद्ध का परिणाम हैं। उस वक्त इस प्रकार का कितना ही साहित्य-निर्माण हुआ जान पड़ता है, परन्तु तेरहपंथी विद्वानों के प्रबल युक्तिवाद और प्रभाव के सामने उसका अधिक प्रचार नहीं हो सका था। किन्तु दुःख तथा खेद का विषय है कि आज कुछ पण्डित लोग, सम्भवतः अपने पूर्व जन्मों के संस्कारवश, उसी मिथ्यात्वपोषक भ्रष्ट साहित्य को प्रचार देने के लिये उतारू हुए हैं और इसके लिये उन्होंने नग्न भट्टारकीय मार्ग का नया अवलम्बन लिया है, क्योंकि पुराने सवस्त्र भट्टारकीय मार्ग की असफलता का उन्हें अनुभव हो चुका है। अन्यथा, सोमसेन-त्रिवर्णाचार जैसे ग्रन्थों पर अटल विश्वास रखने के कारण वे अन्तरंग में मुनियों के सर्वथा नग्न रहने के पक्षपाती नहीं हो सकते मुनि वस्त्र भी रखे और नग्न भी कहलायें, इसीलिये तो भट्टारक सोमसेन जी ने, जो अपने को 'मुनि' तथा 'मुनीन्द्र' तक लिखते हैं, नग्न की विचित्र परिभाषा कर डाली है! और अपने त्रिवर्णाचार के तृतीय अध्याय की निम्न पंक्तियों में दस प्रकार के नग्न बतला दिये हैं—

अपवित्रपटो नग्नो नग्नश्चार्धपटः स्मृतः।

नग्नश्च मलिनोद्वासी नग्नः कौपीनवानपि॥२१॥

कषाय वाससा नग्नो नग्नश्चानुत्तरीयमान्।

अन्तः कच्छोवहिः कच्छोमुक्तकच्छस्तथैव च॥२२॥

साक्षान्नग्नः स विज्ञेयो दश नग्नाः प्रकीर्तिताः।

अर्थात् जो लोग अपवित्र वस्त्र पहने हुए हों, आधा वस्त्र पहने हों, मैले कुचैले वस्त्र पहने हुए हों, लंगोटी लगाये हुए हों, भगवे वस्त्र पहने हुए हों, महज धोती पहने हुए हों, भीतर कच्छ लगाये हुए हों, बाहर कच्छ लगाये हुए हों, कच्छ बिल्कुल न लगाये हुए हों और वस्त्र से बिल्कुल रहित हों, उन सबको नग्न ठहराया है!

जब महात्मा गाँधीजी ने मुनियों को लंगोटी लगाने की बात कही थी, तब इन त्रिवर्णाचारी

पण्डितों ने भी उसका विरोध किया था और उसे देखकर मुझे आश्चर्य हुआ था। मैं सोचता था कि दूसरे लोग नग्नता में बाधा आती हुई देखकर उसका विरोध करें सो तो ठीक, किन्तु ये त्रिवर्णाचारी पण्डित किस आधार पर विरोध करने के लिये उद्यत हुए हैं, जबकि इनके मतानुसार—इनके मान्य आगम त्रिवर्णाचार के अनुसार—लंगोटी तो लंगोटी, पूरे वस्त्र पहनने पर भी नग्नता भंग नहीं होती। परन्तु उसी समय मैंने समझ लिया था कि यह सब इन लोगों की गहरी चालें हैं, ये यों ही अपने विचारों की बलि देकर इन मुनियों के पीछे नहीं लगे हैं, इनके हाथों नग्न भट्टारकीय मार्ग को प्रतिष्ठित कराके उसके द्वारा अपना गहरा उल्लू सीधा करना चाहते हैं, और वही हो रहा है। जनता प्रायः मूर्ख है, मुनियों के बाह्य रूप को देखकर उस पर लट्टू है और मुनि-मोह में पागल बनी हुई है। उसे सूझ नहीं पड़ता कि इन मुनियों में कितना ज्ञान है, कितना वैराग्य है, कितना अकषायभाव है और इनकी परिणति तथा प्रवृत्ति कहाँ तक जैनागम के अनुकूल है! और न उसे यही खबर है कि ये मुनि सामाजिक राग-द्वेषों में कितना भाग ले रहे हैं, और आचार्य होकर भी शान्तिसागर जी इन क्षुल्लकादि वेषधारी पण्डितों के हाथ की कैसी कठपुतली बने हुए हैं! इसी से वह ठगाई जाती है, धोखा खा रही है और अपनी द्रव्यादि शक्तियों का कितना ही दुरुपयोग कर रही है, जिसका एक ताजा उदाहरण सेठ गम्भीरमल जी पाण्ड्या का पश्चाताप पूर्वक यह प्रकट करना है कि उन्होंने चर्चासागर के प्रकाशनार्थ द्रव्य की सहायता देने में धोखा खाया है। और यह सब जैन समाज के दुर्भाग्य की बात है।

अतः जिन लोगों के हृदय में धर्म की कुछ चोट है और समाज का कुछ दर्द है, उन्हें समय रहते शीघ्र सावधान हो जाना चाहिए और जनता को सचेत करते हुए इस नग्न भट्टारकीय पर्दे की ओट में अनर्थों को बढ़ने देना नहीं चाहिए साथ ही अपने धर्म, अपने साहित्य और अपने पूर्व महर्षियों की (प्राचीन आचार्यों की) कीर्ति की रक्षा का और उसे विकृत तथा मलिन न होने देने का पूरा ध्यान रखना चाहिए। यही इस समय का उनका खास कर्तव्य है। और नहीं तो फिर यह देखकर अधिकाधिक पछताना ही पड़ेगा कि—

“पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्वठरैश्च तपोधनैः।

शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्॥”

“भ्रष्टचारित्र पण्डितों और वठर साधुओं (मूर्ख तथा धूर्त मुनियों) ने, जिनेन्द्रचन्द्र के निर्मल शासन को (पवित्र जैनधर्म को) मलिन कर दिया है!”

यही सब सोच-विचारकर समाज-हित की दृष्टि से मैं इस ग्रन्थ की विशेष जाँच, आलोचना एवं परीक्षा में प्रवृत्त हुआ हूँ। इस कार्य के लिये मुझे ग्रन्थ की पुरानी हस्तलिखित प्रति की भी आवश्यकता थी, जिसके लिये सूचना निकाली गई और कुछ पत्रव्यवहार भी किया गया, परन्तु खेद है कि किसी भी भाई ने उसके भेजने या भिजवाने की कृपा नहीं की! सत्य की जाँच, खोज, परीक्षा और निर्णय जैसे कार्यों में समाज के सहयोग की यह हालत निःसन्देह शोचनीय है! हाँ, एक मित्र के द्वारा मुझे इतना पता जरूर चला है कि जिस हस्तलिखित प्रति पर से यह ग्रन्थ अनुवादित और

सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है, वह झालरापाटन के सरस्वती भवन की प्रति है, और इसलिये मैंने उसकी प्राप्ति के वास्ते सेठ विनोदीराम बालचन्द जी की फर्म के मालिक सेठ नेमिचन्द जी बी. सेठी को लिखा, जिसके उत्तर में उन्होंने अपने ३० दिसम्बर सन् १९३१ के पत्र द्वारा यह सूचित किया है कि—‘सूर्यप्रकाश’ की हस्तलिखित प्रति ब्र. ज्ञानसागर जी ले गये थे, तब से वह यहाँ नहीं आई, जिसके लिये लिखा-पढ़ी चल रही है। सो हस्तलिखित प्रति यहाँ पर है नहीं, अगर होती तो आपको अवश्य भिजवा दी जाती।

सूर्यप्रकाश को छपकर प्रकाशित हुए कई वर्ष हो चुके हैं, काम हो जाने के बाद इतने असें तक भी ज्ञानसागर जी जैसे क्षुल्लक व्यक्तियों का उस ग्रन्थ-प्रति को वापस न करना और अपने पास रोके रखना जरूर दाल में कुछ काला होने के सन्देह को पुष्ट करता है। संभव है कि मूल में भी उनके द्वारा कुछ गोलमाल किया गया हो। अस्तु, पुरानी हस्तलिखित प्रति के अभाव में मुद्रित प्रति पर से ही ग्रन्थ के विशेष आलोचनामय परीक्षा कार्य को प्रारम्भ किया जाता है।

ग्रन्थ-नाम

ग्रन्थ का नाम ‘सूर्यप्रकाश’ सामने आते ही और उसके पूर्व में धर्म, कर्म, जैन, मिथ्यान्धकार या महावीर जैसा कोई विशेषणपद न देखकर आम तौर पर यह ख्याल होने लगता है कि इस ग्रन्थ में सूर्य के प्रकाश का विवेचन होगा अथवा सूर्य क्या वस्तु है, उसका उदय-अस्त तथा गति-स्थिति आदि किस प्रकार होती है और उनका क्या परिणाम निकलता है, इत्यादि ज्योतिःशास्त्रसम्बन्धी बातों का वर्णन होगा। परन्तु यह सब कुछ भी नहीं है। ग्रन्थ में भगवान् महावीर के मुख से भावी मनुष्यों के आचार-विचार, उनकी प्रवृत्ति, कतिपय धर्मों के प्रादुर्भाव और कुछ घटनाओं आदि का वर्णन यद्वा-तद्वा भविष्य कथन के रूप में कराया गया है, और इसलिये ग्रन्थ के विषय को देखते हुए ग्रन्थ का यह नाम कुछ बड़ा ही विचित्र जान पड़ता है और उस पर से ग्रन्थ के यों ही कल्पित किये जाने की थोड़ी सी प्राथमिक सूचना मिलती है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि ग्रन्थकार कोई विशेष बुद्धिमान् अथवा समझ-बूझ का आदमी नहीं था। उसके कथनानुसार यह ग्रन्थ प्रायः ‘अनागतप्रकाश’ नामक किसी ग्रन्थ के आधार पर रचा गया है। जो सम्भवतः ग्रन्थकार महाशय की कल्पना में ही स्थित जान पड़ता है और इसलिये इसका नाम यदि ‘भविष्यप्रकाश’ जैसा कुछ होता तो विषय के साथ भी उसका कुछ मेल मिल जाता, किन्तु ऐसा नहीं है। विषय के साथ नाम का सामंजस्य स्थापित करने की ग्रन्थकार को कोई समझ ही नहीं पड़ी और इसी से उसका यह नामकरण बहुत कुछ निरंकुशता तथा बेढंगेपन को लिये हुए जान पड़ता है। अस्तु।

ग्रन्थ का जालीपन

अब मैं सबसे पहले पाठकों के सामने कुछ ऐसे प्रमाण उपस्थित करता हूँ, जिनसे साफ तौर पर इस ग्रन्थ का जालीपन पाया जाता है—

१. ग्रन्थावतार की विचित्र कल्पना

ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थावतार की कथा देते हुए लिखा है कि गिरनार पर्वत की गुहा में धरसेन नाम के एक योगीन्द्र रहते थे। उन्होंने यह सोचकर कि सम्पूर्ण अंगो तथा पूर्वो का ज्ञान लोप हो चुका है और बिना शास्त्र के लोग धर्म के मार्ग को नहीं जान सकेंगे। जयधवल, महाधवल और विजयधवल नाम के तीन शास्त्रों की रचना की, जिनकी श्लोक संख्या क्रमशः ७० हजार, ४० हजार और ६० हजार हुई। रचना के बाद उन्हें पत्रों (ताडपत्रों) पर लिखा गया और ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी के दिन चतुर्विध-संघ के साथ उनकी पूजा की गई। इसके बाद धरसेनजी का स्वर्गवास हो गया। और उनके शिष्य भूतबलि आदि उन तीनों ग्रन्थों के पाठी हुए। उनके भी स्वर्गवास पर कालक्रम से नेमिचन्द्र मुनीन्द्र (सिद्धान्त चक्रवर्ती) उन तीनों ग्रन्थों के पारगामी हुए और उन्होंने महाधवल ग्रन्थ के आधार पर तीन ग्रन्थों की रचना की, जिनके नाम हैं (१) अनागत प्रकाश (२) तत्त्व प्रकाश (३) धर्म प्रकाश। अनागत प्रकाश को 'सर्व-क्रियादिकथक' तथा 'मतान्तरविधातक' लिखा है और इसी ग्रन्थ के अनुसार 'सूर्यप्रकाश' नाम का यह ग्रन्थ रचा गया है, ऐसी ग्रन्थकार ने सूचना की है। और इस तरह पर महाधवल ग्रन्थ तथा धरसेनाचार्य को इस ग्रन्थ का मूलाधार बतलाकर इसे महाप्रामाणिक प्रसिद्ध करने की चेष्टा की गई है।

परन्तु यह सब कोरी कल्पना और जाल है, वास्तविकता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि प्रथम तो यह बात किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है कि श्री धरसेनाचार्य ने जयधवलादि नाम के तीन ग्रन्थों की रचना की, उन्हें पत्रों पर लिखाया और ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को उनकी प्रतिष्ठा की। वस्तुतः उन्होंने खुद ऐसा कोई ग्रन्थ ही नहीं बनाया। दूसरे, जयधवलादि ये मूल ग्रन्थों के नाम नहीं, किन्तु टीका ग्रन्थों के नाम हैं। टीकाओं का ही इतने श्लोक परिमाण विस्तार है और वे मूल ग्रन्थों से बहुत कुछ बाद की (शताब्दियों पीछे की) कृतियाँ हैं। जिसे यहाँ 'जयधवल' नाम दिया गया है, वह वस्तुतः भूतबलि पुष्पदन्ताचार्य द्वारा महाकर्मप्रकृति प्राभृत से उद्धृत 'षट्खण्डागम' ग्रन्थ की वीरसेनाचार्य कृत 'धवला' नाम की टीका अथवा 'धवल' नाम का भाष्य है, जिससे युक्त सिद्धान्त ग्रन्थ को 'धवलसिद्धान्त' कहते हैं और उसकी रचना शक संवत् ७३८ (वि० संवत् ८७३) में हुई है। ग्रन्थ में अन्यत्र धरसेन यतीन्द्रेण रचिता धवलादयः, इस वाक्य के द्वारा प्रथमोल्लेखित ग्रन्थ का नाम 'धवल' दिया भी है। इसी तरह 'विजयधवल' जिसका नाम दिया गया है, वह गुणधर आचार्य विरचित 'कषायप्राभृत' ग्रन्थ की 'जयधवला' नाम की टीका अथवा 'जयधवल' नाम का भाष्य है जिसे २० हजार श्लोक जितने आद्य अंश को वीरसेन ने, और शेष को उनके शिष्य जिनसेन ने शक सं० ७५९ (सं० ८९४) में रचा है। और ये सब बातें इन ग्रन्थों पर से ही जानी जाती हैं। ये दोनों ग्रन्थ मूडबिंद्री की काल कोठरी से निकलकर उत्तर भारत में भी आ गये हैं और इसलिये इनके विषय में अब कोई

४. 'सूर्यप्रकाश' में इन ग्रन्थों के अस्तित्व स्थान इस नगर को 'जैनपुर' नाम से उल्लेखित किया है और अनुवादक ने उसका अर्थ 'मूडबिंद्री' ही दिया है।

गलतफहमी नहीं फैलाई जा सकती। इन्द्रनन्दि के 'श्रुतावतार' से भी इन बातों का समर्थन होता है और उसमें यह भी लिखा है कि सबसे पहले भूतबलि आचार्य ने 'षट्खण्डागम' को पुस्तकारूढ़ (लिपिबद्ध) करारकर ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को उसकी पूजा प्रतिष्ठा की थी, धरसेनाचार्य का इस पूजा प्रतिष्ठादि से कोई सम्बन्ध नहीं है। रही 'महाधवल' ग्रन्थ की बात, वह भी धरसेनाचार्य की कोई कृति नहीं है, किन्तु षट्खण्डागम के 'महाबन्ध' नामक छोटे खण्ड का या अधिक स्पष्ट रूप में कहा जाये तो महाबन्ध के संक्षेपभूत 'सत्कर्म' नामक ग्रन्थ का कोई भाष्य है, जो 'महाधवल' नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है। उक्त श्रुतावतार में इस नाम से उसका कोई उल्लेख नहीं है और मूड़बद्री के पं० लोकनाथ जी शास्त्री ने हाल में उसका जो परिचय ३१ दिसम्बर सन् १९३१ के 'जैन-मित्र' अंक नं० ७ में प्रकाशित कराया है उससे भी इस नाम की कोई स्पष्ट उपलब्धि नहीं होती^५। हाँ, ब्रह्म. हेमचन्द्र के 'श्रुतस्कंध' से इस ४० हजार की संख्या वाले ग्रन्थ का नाम 'महाबन्ध' जरूर जान पड़ता है—

सत्तरिसहस्रधवलो जयधवलो सट्ठसहस्रबोधव्वा।

महबंधो चालीसह सिद्धंततयं अहं वंदे॥८८॥

और शास्त्री जी के उक्त परिचय से भी यह ग्रन्थ साफ़ तौर पर बन्धविषयक मालूम होता है, क्योंकि इसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ऐसे चार प्रकार के बन्धों का ही चार अध्यायों में विस्तार के साथ वर्णन किया है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि कोई विवरण (भाष्य) ग्रन्थ है, इसमें पंचिका रूप से मूल 'सत्कर्म' विषय का विवरण दिया है, जैसा कि इस ग्रन्थ के निम्न प्रतिज्ञावाक्य से प्रकट है—**वुच्छामि सत्तकम्मे पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं॥**

और इसलिये महाधवल को महाबन्ध के संक्षेपभूत उस 'सत्कर्म'^६ ग्रन्थ का भाष्य समझना

५. इस विषय में विशेष रूप से दर्शाफ़्त करने पर और यह पूछने पर कि ग्रन्थ साहित्य के किस अंश पर से उन्हें इस नाम की उपलब्धि हुई है, शास्त्रीजी अपने १७ जुलाई सन् १९३२ के पत्र में लिखते हैं “उक्त सिद्धान्त ग्रन्थ के किसी अध्याय के अन्त में 'महाधवल' नाम नहीं लिखा गया किन्तु केवल ग्रन्थकार के प्रथम पृष्ठ में 'महाधवल' ऐसा नाम है। अतएव (उस ग्रन्थ के इस नाम सम्बन्धी) विषय में मुझे भी संदेह है”।
६. पं० लोकनाथजी शास्त्री ने अपने ग्रन्थ परिचय में भाष्य के उक्त प्रतिज्ञावाक्य में प्रयुक्त हुए 'सत्तकम्मे' पद के 'सत्त' शब्द का अर्थ 'सप्त' दिया है, जो ठीक मालूम नहीं होता, क्योंकि इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार के “सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य” इस वाक्य से यह स्पष्ट जाना जाता है कि छोटे खण्ड के संक्षेपभूत ग्रन्थ का नाम 'सत्कर्म' है और वही 'सत्तकम्मे' पद के द्वारा यहाँ विवक्षित है। प्राकृत भाषा में 'सत्त' शब्द केवल 'सप्त' के अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं होता किन्तु सत्य (सत्), शक्त, शप्त, सक्त, सत्र, गत और सत्व अर्थों में भी प्रयुक्त होता है (देखो, प्राकृत शब्द महार्णव पृष्ठ १०७६)। और इसलिये श्रुतावतार के उक्त वाक्य को ध्यान में रखते हुए यहाँ पर उसका सत्य अर्थात् सत् अर्थ ही ठीक जान पड़ता है और उससे मूल ग्रन्थ का नाम बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। भाष्य लिखने की प्रतिज्ञा के अवसर पर उस ग्रन्थ का नाम दिया जाना बहुत कुछ स्वाभाविक है, जिस पर भाष्य लिखा जाता है। यहाँ पर यह प्रकट कर देना भी उचित मालूम होता है कि बाद को उक्त शास्त्रीजी ने भी इसे मान लिया है। वे १७ जुलाई सन् १९३२ के पत्र में, अपनी भूल स्वीकार करते हुए लिखते हैं—“मंगलाचरण में प्रयुक्त 'सत्तकम्मे' इस पद का 'सप्तविधकर्म' ऐसा, अर्थ ठीक नहीं है, जो आपने श्रुतावतार के अनुसार 'सत्कर्म' किया, सो ही ठीक मालूम पड़ता है”।

चाहिए जो कि 'श्रुतावतार' पर से वीरसेन आचार्य की कृति जाना जाता है। और इससे तीसरी बात यह फलित होती है कि 'महाधवल' ग्रन्थ का विषय इस 'सूर्यप्रकाश' ग्रन्थ के विषय से एकदम भिन्न है और इसलिये यह ग्रन्थ जिस 'अनागतप्रकाश' ग्रन्थ के आधार पर बतलाया जाता है, उसके उद्धार का सम्बन्ध महाधवल के साथ नहीं जोड़ा जा सकता।

चौथे, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने 'अनागतप्रकाश' आदि नाम के तीन ग्रन्थ बनाये हैं, इसकी भी अन्य कहीं से कुछ उपलब्धि और सिद्धि नहीं होती। उनके बनाये हुए तीन प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं, जो प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं और वे हैं गोम्मटसार, त्रिलोकसार और लब्धिसार-जिसमें क्षणसागर भी शामिल है। 'बाहुबलि-चरित्र' में भी नेमिचन्द्र के नाम के साथ इन्हीं तीनों ग्रन्थों का उल्लेख पाया जाता है और लिखा है कि वे सिद्धान्तसागर को मथकर प्राप्त किये गये हैं, जिससे धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थों पर से उन्हीं के उद्धृत किये जाने की स्पष्ट सूचना मिलती है-दूसरों की नहीं! यथा-

सिद्धान्तामृतसागरं स्वमतिमन्थक्ष्माभृदालोड्यमध्ये,
लेभेऽभीष्टफलप्रदानपि सदा देशीगणाग्रेसरः।
श्रीमद्गोम्मटलब्धिसारविलसत् त्रैलोक्यसारामर-
क्ष्माजश्रीसुरधेनुचिन्तितमणीन् श्रीनेमिचन्द्रो मुनिः॥

सूर्यप्रकाश के विधाता ने नेमिचन्द्राचार्य की कृति रूप से इन ग्रन्थों का नाम तक भी नहीं दिया! इनके स्थान पर दूसरे ही तीन नवीन ग्रन्थों की कल्पना कर डाली है, जिनका कहीं कुछ पता तक भी नहीं है!! हाँ, अनुवादक महाशय को कुछ ख्याल आया और उसने अपनी तरफ से लिख दिया है कि आपके "प्राकृत के ग्रन्थ गोम्मटसारादि प्रसिद्ध हैं"।

इस प्रकार यह जयधवलादि ग्रन्थों का ऐतिहासिक परिचय है और इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने इनके नाम पर कितना जाल रचा है। मालूम होता है उसने कभी इन ग्रन्थों को देखा तक भी नहीं, यों ही इधर-उधर से इनके महत्वादि की कुछ कथा सुनकर और यह जानकर कि वे दूर से ही पूजा-अर्चा के पात्र बने हुए मूड़बद्री की एक काल-कोठरी में बन्द हैं, किसी को प्राप्य नहीं हैं, न सर्वसाधारण की उन तक गति है और इसलिये उनके पवित्र नामाश्रय पर जो भी प्रपञ्च रचा जायेगा वह सहज ही में किसी को मालूम नहीं हो सकेगा, उसने यह सब कुछ खेल खेला है, और इस तरह पर अपनी मनमानी बातों को प्राचीन ग्रन्थों तथा प्राचीन आचार्यों के नाम पर जनता के गले उतारने का जघन्य प्रयत्न किया है। ग्रन्थकार पं० नेमिचन्द्र का यह प्रयत्न उस प्रपञ्च से भी एक तरह पर कुछ बढ़ा चढ़ा है जो जिनसेन-त्रिवर्णाचार के कर्ता ने 'यथोक्तं जयधवले', 'तत्राह महाधवले', 'अथ धवलेऽप्युक्तं' जैसे वाक्यों के साथ हिन्दू ऋषियों के स्त्री-संभोगादि सम्बन्धी कुछ जैनबाह्य वाक्यों को हिन्दू ग्रन्थों से उद्धृत कर उन्हें जयधवलादि ग्रन्थों के नाम से जैनसमाज में प्रचलित करने का किया था^७। उसका वह प्रपञ्च तो इन सिद्धान्त ग्रन्थों के सम्बन्ध में कुछ थोड़े से वाक्यों तक ही

७. देखो इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ५४ से ५५ तक।

सीमित था, परन्तु इस ग्रन्थकार ने तो प्रायः समूचे ग्रन्थ को महाधवल की गर्दन पर लादकर चलाने का भारी प्रपञ्च रचा है! इस जालसाजी तथा धूर्तता का भी कुछ ठिकाना है!! मालूम होता है, ग्रन्थकार महाशय को अपनी इस प्रपञ्च रचना पर, उसे अमोघ समझते हुए बहुत कुछ गर्व हुआ है और इसलिये उसने ग्रन्थावतार के अन्त में यहाँ तक लिख दिया है कि “जो कोई मनुष्य कुमार्गपोषक (सुधारक आदि?) होंगे वे इस ग्रन्थ के सुनने मात्र से मंत्रकीलित नागों की तरह मूकवत् स्थिर हो जायेंगे—उन्हें इसके विरुद्ध बोल तक नहीं आएगा”—

अस्य श्रवणमात्रेण कुपथपोषका नराः ।

मूकवत् येऽत्र स्थास्यन्ति यथा नागाश्च कीलिताः॥

परन्तु बेचारे पण्डितजी को यह खबर नहीं थी कि जयधवलादि ग्रन्थ सदा के लिये कालकोठरी में बन्द नहीं रहेंगे, काललब्धि को पाकर एक न एक दिन उनके बंधन भी खुलेंगे, वे कनड़ी लिपि से देवनागरी लिपि में भी लिखे जायेंगे और विद्वानों के परिचय में भी आयेंगे। और न यही खबर थी कि उसके इस समग्र मायाजाल का भंडाफोड़ करने वाले तथा इस ग्रन्थ के विरुद्ध साधिकार बोलने वाले परीक्षक भी पैदा होंगे और उन पर कोई माया मंत्र न चल सकेगा! यदि खबर होती तो वह ऐसी गर्वोक्ति का साहस कर व्यर्थ ही हास्यास्पद बनने की चेष्टा न करता।

यहाँ पर मुझे इतना और भी कह देना चाहिए कि आज भी जो लोग कषाय तथा अज्ञानवश इन ग्रन्थों को छिपाकर रखते हैं और किसी जिज्ञासु विद्वान् को भी पढ़ने के लिये नहीं देते, वे इन ग्रन्थों के नाम पर ऐसे प्रपंचों तथा जाली ग्रन्थों के रचे जाने में सहायक होते हैं। अतः मूडबंदी और सहारनपुर जैसे स्थानों के भाइयों को इस विषय में अपने कर्तव्य को खास तौर पर समझ लेना चाहिए, और साथ ही यह जान लेना चाहिए कि उनका ऐसा व्यवहार जिनवाणी माता के प्रति घोर अत्याचार है तथा दूसरों की ज्ञान सम्प्राप्ति में बाधक होना अपने अशुभ कर्मों के आस्रव-बन्ध का कारण है।

२. भगवान् महावीर के सिर विरुद्ध कथन

ग्रन्थ में मंगलाचरणादि के अनन्तर भगवान् महावीर के समवसरण में राजा श्रेणिक के पहुँचने का और भगवान् से पञ्चमकालभावी प्राणियों के सम्बन्ध में एक प्रश्न “पंचमे कीदृशा भूताः का चेष्टा कीदृशी क्रिया भविष्यन्ति कथं ते हि” इत्यादि रूप से पूछने का उल्लेख करते हुए प्रश्न के उत्तर रूप ग्रन्थ के विषय का प्रारम्भ किया गया है। भगवान् ने “शृणु त्वं भावितीर्थेशवर्णनं पंचमस्य वै (७८)” इत्यादि रूप से उत्तर देते हुए और कुछ भविष्य का वर्णन करते हुए कहा है—

सहस्रार्धेषु वर्षेषु नाशो धर्मस्य वा पुनः ।

भविष्यन्ति पुनर्धर्ममार्गजैनप्रभावकाः॥१५३॥

भद्रबाहुस्तथा भूप जिनसेन ऋषीश्वरः ।

समन्तभद्रयोगीन्द्रो बौद्धमातंगसिंहभः॥१५४॥

इत्याद्या वरयोगीन्द्रा वर्तयिष्यन्ति निश्चयात् ।

दिशावासधराः पूज्या देवमानववृन्दतः॥१५५॥

पश्चादभ्रमुनिजायाप्रमाब्दे मगधेश्वर।

कुन्दकुन्दाभिधो मौनी भविष्यति सुरार्चितः॥१५६॥

इस भविष्य वर्णन में बतलाया है कि पाँच सौ वर्ष में धर्म का नाश हो जायेगा, फिर जैनधर्म की पुनः प्रभावना प्रतिष्ठा करने वाले भद्रबाहु, जिनसेन और समन्तभद्र आदि उत्तम योगीन्द्र होंगे। बाद को कुछ वर्ष बीतने पर जिनकी संख्या 'जायो' शब्द का प्रयोग संदिग्ध होने से ७० ऊपर कुछ शतक जान पड़ती है, कुन्दकुन्द नाम के मुनि होंगे।

यह वर्णन आपत्ति के योग्य है, क्योंकि भगवान् महावीर से पाँच सौ वर्ष के भीतर जैनधर्म का नाश अथवा लोप नहीं हुआ, ५०० वर्ष की समाप्ति पर भी जैनधर्म तब आज से कहीं बहुत अधिक अच्छे ढंग से प्रचलित था। उस वक्त उसके अनुयायियों में ग्यारह अङ्गादिक के पाठी तक भी मौजूद थे, जिनका आज शताब्दियों से अभाव है। दूसरे, कुन्दकुन्द का अवतार समन्तभद्र के ही नहीं, किन्तु जिनसेन के भी बाद (पश्चात्) बतलाना ऐतिहासिक तथ्य के विरुद्ध है। जिनसेन कुन्दकुन्द से कई शताब्दियों बाद विक्रम की ९वीं शताब्दी में हुए हैं। उन्होंने 'जयधवल' भाष्य को शक सं० ७५९ (वि०सं० ८९४) में बनाकर समाप्त किया है, जबकि कुन्दकुन्द शक संवत् ३८८ से भी बहुत पहिले हो चुके हैं, क्योंकि इस संवत् में लिखे हुए मर्करा ताम्रप्लेट में उनका नामोल्लेख ही नहीं किन्तु उनके वंश में होने वाले गुणचन्द्रादि दूसरे कई आचार्यों तक के नाम भी दिये हुए हैं^८। और समन्तभद्र का कुन्दकुन्द से पीछे होना तो श्रवणबेलगोल के कई शिलालेखों (नं० ४०/६४ आदि) से प्रकट है।

यद्यपि श्लोक नं० १५६ के शुरू में प्रयुक्त हुआ 'पश्चात्' शब्द अपने प्रयोगमाहात्म्य से साफ़ तौर पर पूर्वोल्लिखित भद्रबाहु, जिनसेन और समन्तभद्र के पश्चात् कुन्दकुन्द के होने को सूचित करता है, परन्तु अनुवादक महाशय ने उसके पहले "हमारे" अर्थवाचक शब्द की यों ही ऊपर से कल्पना की है और 'जाया' शब्द को चार की संख्या का वाचक बतलाकर (!) लिख दिया है कि "हमारे (वीर निर्माण संवत् से) चार सौ सत्तर वर्ष के बाद देवों से पूजित कुन्दकुन्द नाम के यतीश्वर होंगे" अर्थात् वि० संवत् १ में कुन्दकुन्द का होना बतला दिया है! इस अर्थ को यदि किसी तरह पर ठीक मान लिया जाये तो उससे और कई आपत्तियाँ खड़ी होती हैं और विरोध आते हैं—

(क) एक तो आगे कुन्दकुन्द का वर्णन करते हुए जो उनके समय में धरसेनाचार्यकृत धवलादि ग्रन्थों का अस्तित्व बतलाया गया है^९ वह नहीं बन सकता, क्योंकि वीर निर्माण संवत् ४७० से पहले न तो धरसेन ही हुए हैं और न उन मूल सिद्धांत ग्रन्थों की रचना ही हुई थी जिन पर धवलादि भाष्य रचे गये हैं। इन सबका प्रादुर्भाव धवलादि ग्रन्थों के अनुसार उस समय के बाद हुआ है जबकि एक

८. देखो, 'एपिग्राफिका कर्णाटिका' जिल्द पहली अथवा 'स्वामी समन्तभद्र' इतिहास पृष्ठ १६६।

९. "धरसेनयतीन्द्रेण रचिता धवलादयः। विद्यन्ते तेऽधुना तत्र जैनाभिद्यपुरे वरे"॥ (पृष्ठ ६८)

१०. रिपुरग्रीन्दु संयुक्तसमेऽभूत्स्वेतवाससाम्। द्वापरेषु प्रमग्नानां यतोहि कालदोषतः॥

भी अङ्ग का कोई पूरा पाठी नहीं रहा था और यह समय पूर्वोल्लिखित श्रुतावतार तथा श्रुतस्कंध के ही नहीं, किन्तु त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति और जिनसेनकृत हरिवंशपुराणादि जैसे प्राचीन ग्रन्थों के भी अनुसार वीर निर्वाण संवत् ६८३ है। और इसलिये दोनों कथन परस्पर में विरुद्ध पड़ते हैं।

(ख) दूसरे, ग्रन्थावतार में ग्रन्थकार का यह सूचित करना कि धरसेन से पहले संपूर्ण अंग तथा पूर्व नष्ट हो चुके थे (“अंगाश्च पूर्वा ह्यखिला गताश्च” पृ० ३९०) और फिर धरसेन को वीर निर्वाण सं० ४७० से पहले का विद्वान् बतलाना भी विरुद्ध है, जबकि अङ्गज्ञान नष्ट नहीं हुआ था।

(ग) तीसरे, कुन्दकुन्द के समय में श्वेताम्बर मत का जो बहुत कुछ प्रचार बतलाया गया है और यह कहा गया है कि गिरनार पर्वत पर श्वेताम्बराचार्य के साथ कुन्दकुन्द का महान् वाद हुआ है, वह सब कथन भी विरुद्ध ठहरता है, क्योंकि इसी ग्रन्थ में दूढक मत की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए, श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति संवत् १३६ में बतलाई है (पृष्ठ १७९)^{१०} और यह संवत् १३६ विक्रम संवत् जान पड़ता है, जिसका समर्थन रत्ननन्दि के भद्रबाहु चरित्र से ^{११} ही नहीं किन्तु १० वीं शताब्दी के बने हुए दर्शनसार ग्रन्थ की निम्न गाथा से भी होता है—

एकसये छत्तीसे विक्क मरायस्स मरण पत्तस्स।

सोरट्टे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो॥

यदि यह कहा जाये कि यह सं० १३६ वीर निर्वाण संवत् है तब भी विरोध दूर होने में नहीं आता, क्योंकि एक तो दूसरे प्राचीन ग्रन्थों के साथ विरोध बना ही रहता है, दूसरे इसी ग्रन्थ में अन्यत्र पृष्ठ ६३ पर श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति भद्रबाहु के समय के बाद बतलाई है^{१२}। ये भद्रबाहु यदि श्रुतकेवली हो तो उनका समय दिगम्बर मतानुसार वीर निर्वाण से १६२ वर्ष तक का है। इनके बाद श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति होने से वह वीर निर्वाण संवत् १३६ में नहीं बन सकती और इस संवत् में उत्पत्ति मानने से वह भद्रबाहु श्रुतकेवली के बाद नहीं बन सकती। यदि ये भद्रबाहु दूसरे भद्रबाहु हों तो फिर वे उक्त भविष्यवर्णन के भी अनुसार वीर निर्वाण से ५०० वर्ष के बाद हुए हैं, तब वीर निर्वाण सं० १३६ में श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति और भी ज्यादा विरुद्ध हो जाती है और ‘पश्चात्’ शब्द का अर्थ वही ५०० वर्ष के बाद होने वाले भद्रबाहु, समन्तभद्र आदि आचार्यों के भी बाद का रह जाता है जिस पर शुरू में ही आपत्ति की जा चुकी है।

इस तरह पर उक्त भविष्य-कथन हर तरह से विरुद्ध तथा आपत्ति के योग्य पाया जाता है। भगवान् महावीर जैसे आप्त पुरुषों के द्वारा ऐसे विरुद्ध कथनों का प्रणयन नहीं बन सकता। चूँकि यह सब कथन भगवान् महावीर के मुख से कहलाया गया है (उनके सिर पर इसका सारा भार रखा गया है) इसलिये इससे साफ़ तौर पर ग्रन्थ का जालीपन सिद्ध होता है।

११. मृते विक्रमभूपाले षट्त्रिंशदधिके शते॥ गतेऽब्दानामभूल्लोके मतं श्वेताम्बराभिधं॥४-५५॥

१२. “भद्रदोः समये पश्चादभूद्वै श्वेतवाससां। मतः कापट्यमग्नां द्वादरार्पितचेतसाम्”॥

अर्थ—“भद्रबाहु स्वामी के पीछे श्वेताम्बर मत प्रचलित हुआ।”

३. महावीर के नाम पर असम्बद्ध प्रलाप

उक्त (नं० २ में उद्धृत) भविष्य वर्णन के अनन्तर पद्य नं० १५७ में राजा श्रेणिक को कुन्दकुन्द मुनि का चरित्र सुनने की प्रेरणा की गई है और फिर उन मुनिराज का भावी वृत्तान्त सुनाया गया है, जो पद्य नं० ४९७ पर जाकर समाप्त हुआ है। इस प्रकरण के आदि अन्त के दोनों पद्य इस प्रकार हैं—

मुनेस्तस्य शृणुध्वं च वृत्तमानन्ददायकम्।
 एकाग्रमनसा भूप कर्मन्धनहुताशनम्॥१५७॥
 इत्थं श्रेणिक-भूप सर्वगदितं वृत्तं मया तेऽखिलम्
 पापौघस्य विनाशकं सुविमलं श्रीकुन्दकुन्दस्य वै।
 चित्ते त्वं कुरु धारणं च मनसः शुद्धं करं नन्ददम्
 अग्रे धर्मविवर्द्धकं वरसुरैः पूज्यं च पूज्योदयम्॥४९७॥

इनसे स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द का यह सब ३४० पद्यमय भावी वृत्तान्त महावीर के द्वारा राजा श्रेणिक के प्रति कहा गया है। अब इस वृत्तान्त का कुछ परिचय भी लीजिये—

वृत्तान्त के प्रारंभिक अंश (श्लोक नं० १५८ से १९८ तक) को पढ़ते हुए प्रायः^{१३} ऐसा मालूम होता है मानो भगवान् ठीक ठीक भविष्य का वर्णन कर रहे हैं। उन्होंने बतलाया है कि 'वार (वारौ?)' नगर में 'कुन्द' सेठ और 'कुन्दा' सेठानी से 'कुन्दकुन्द' नाम का पुत्र पैदा होगा, जो कुमार अवस्था में ही जिनचन्द्र मुनि के पास से जिनदीक्षा लेकर मुनि हो जायेगा। एक दिन वे कुन्दकुन्द मुनि धरणीभूषण पर्वत पर विदेहक्षेत्रस्थ सीमंधर स्वामी का ध्यान लगायेंगे, उस वक्त सीमंधर स्वामी अपने समवसरण में उन्हें 'धर्मवृद्धि' देंगे, उसे सुनकर वहाँ पर बैठे हुए चक्रवर्ती आदि राजा विस्मय को प्राप्त हुए (प्रायुः १७०)! वे भगवान् सीमंधर स्वामी से पूछेंगे कि यहाँ कोई आया नहीं, तब आप ने किसको धर्मवृद्धि दी, उत्तर में स्वामी उन्हें भरतक्षेत्र की वर्तमान स्थिति का कुछ वर्णन करते हुए तत्रस्थ कुन्दकुन्द मुनि का और उनके उस ध्यान का परिचय देंगे, उसे सुनकर चक्रवर्ती आदि महान् हर्ष को प्राप्त हुए (संप्रायुः १८४) और सब देवेन्द्रों, राजाओं तथा यतीश्वरों ने हाथ जोड़कर भारत के उस ऋषि को नमस्कार किया (चक्रुर्नतिं १८५)! इसके बाद यह पूछे जाने पर कि वे कुन्दकुन्द मुनि किस उपाय से यहाँ आ सकेंगे, सीमंधर स्वामी ने कहा (अवदत् १८६) कि उनके पूर्व जन्म के दो मित्रों रविकेतु और चन्द्रकेतु को भेजना चाहिए। उक्त दोनों देव कुन्दकुन्द को ले जाने के लिये यहाँ (भारत में) आवेंगे, उस वक्त यहाँ रात्रि का समय होने से और यह जानकर कि ध्यानमग्न मुनि रात्रि को बोलते नहीं, वे नमस्कार करके वापस चले जायेंगे। प्रातः काल शिष्यों से देवों के आगमन आदि का हाल मालूम करके कुन्दकुन्द इस प्रकार का दुर्घट नियम लेंगे कि जब तक सीमंधर स्वामी की दर्शन-प्राप्ति न होगी

१३. इस अंश में भी कहीं कहीं कुछ भविष्यकालीन क्रियाओं के स्थान पर 'प्रायुः', 'संप्रायुः', 'चक्रुः' और 'अवदत्' जैसी भूतकालीन क्रियाओं का गलत प्रयोग पाया जाता है। इसी से यहाँ जानबूझकर 'प्रायः' शब्द का व्यवहार किया गया है।

तब तक मेरे चार प्रकार के आहार का त्याग है। इसके बाद वे दोनों देव फिर दिन के समय आयेंगे और उनके विमान में बैठकर कुन्दकुन्द सीमंधर स्वामी के पास जायेंगे॥ पिछले कथन का सूचक अन्तिम वाक्य इस प्रकार है—

तद्विमाने समारूढ यास्यति स मुनीश्वरः।

केवलं धर्मकार्यार्थं पूर्वपुण्येन प्रेरितः॥१९८॥

परन्तु इस कथन के बाद ऐसा मालूम होता है कि भगवान् अपनी भविष्य वर्णना की बात को भूलकर एकदम बदल गये हैं और इसलिये उन्होंने विमानारूढ़ कुन्दकुन्द का शेष जीवनचरित्र अपने पूर्वकथन के विरुद्ध भूतकालीन क्रियाओं में इस ढंग से कहना प्रारम्भ कर दिया है मानो कुन्दकुन्द कोई भूतकालीन ऋषि थे और वे भगवान् महावीर से पहले हुए हैं। महावीर के इस उत्तर कथन की कुछ बातें सूचना मात्र क्रमशः इस प्रकार हैं—

“विमानरूढ़ कुन्दकुन्द ने अनेक पर्वतों, आश्चर्यों और सम्पूर्ण पृथिवी को देखते हुए आकाश में गमन किया (चकार गमनं १९९), विमान से उतरकर सीमंधर प्रभु की सभा में प्रवेश किया (विवेश २००), उन्हें देखा,^{१४} तीन प्रदक्षिणाये दीं, उनका स्तवन प्रारम्भ किया, अपने लघुशरीर का ख्याल कर कहाँ बैठने के सम्बन्ध में कुछ विचार किया और फिर सीमंधर स्वामी के पीठाधोभाग में अपना आसन ग्रहण किया। उस समय वहाँ चक्री आया, उसने कुन्दकुन्द को हाथ में लेकर आश्चर्य के साथ कुछ चिन्तन किया, फिर स्वामी से पूछा, उन्होंने कहा कि जिसकी बाबत पहले कहा गया था यह वही भारतज मुनि है, यह सुनकर चक्री सन्तुष्ट हुआ और उसने मुनि को इस भय से कि कहीं तुच्छकाय होने के कारण उस (५०० धनुष ऊँचे पर्वताकार मनुष्यों के बीच में) कुछ हानि न पहुँच जाये स्वामी के सामने स्थापित कर दिया। कुन्दकुन्द मुनि ने सीमंधर स्वामी की दिव्यवाणी सुनकर आनन्द प्राप्त किया और फिर स्वामी से एक लम्बा-सा प्रश्न करके वे मौनस्थ हो रहे। प्रश्न में मिथ्यात्व की वृद्धि, सर्वत्र जिनालयों के न होने, श्वेताम्बर मत के प्रचार तथा जैन शास्त्रों के न दिखलाई देने का भी उल्लेख किया गया है और उसका कारण पूछा गया है। उत्तर में सीमंधर स्वामी की वाणी खिरी, जिसमें बलभद्र के जीव द्वारा मिथ्यामत की उत्पत्ति जैसी अन्य बातों के अतिरिक्त भद्रबाहु के पश्चात् श्वेताम्बर मत उत्पन्न हुआ बतलाया गया, श्वेताम्बरों पर ‘कापट्यमग्नता’ का आरोप किया गया, दुष्ट लोगों द्वारा जिनागम शास्त्रों के समुद्र में डुबोए जाने के कारण जैन शास्त्रों का न दिखाई देना कहा गया और साथ ही यह भी कहा गया कि इस समय जैनपुर (मूडबिद्री) में धरसेन-यतीन्द्र के रचे हुए ध्वलादिक शास्त्र मौजूद हैं। उत्तर को सुनकर कुन्दकुन्द का चित्त सदेहरहित हो गया। इसके बाद स्वामी की ध्वनि में यह बात प्रकट हुई कि कुन्दकुन्द योगीन्द्र को सर्वसिद्धान्त सूचक शास्त्र लिखाकर दिये जाने चाहिए और उन्हें ग्रन्थों के साथ भेजना चाहिए। ध्वनिसमाप्ति पर कुन्दकुन्द सभा स्थान में ही ग्रन्थों को पढ़ने १४. यहाँ ‘ददर्श’ और आगे ‘ददौ’, ‘आरभे’ आदि मूल क्रियापदों को साथ में न दिखलाकर उनका अर्थ अथवा आशय ही दे दिया गया है।

के लिये बैठ गये (!) और उन्होंने वहाँ सर्वसिद्धान्तसूचक ग्रन्थ पढ़े। विदेह क्षेत्र में आहार की योग्यता न मिलने से वहाँ आहार के समय दिन और रात्रि होने की वजह से (!) कुन्दकुन्द सात दिन तक निराहार रहे, फिर सीमंधर स्वामी को बार-बार स्तुतिप्रणाम कर, गणधरादि को नमन कर और उनके दिये हुए ग्रन्थों को लेकर तथा विमान में रखकर वे पूर्वोक्त दोनों देवताओं के साथ आकाश मार्ग से रवाना हुए, देवता उन्हें उसी स्थान पर छोड़कर और उनकी आज्ञा लेकर वापस चले गये। फिर कुन्दकुन्द ने सारे मिथ्यात्व को शान्त किया, उनके उपदेश से भव्य जीवों ने दान, पूजा, यात्रा, अभिषेक, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, मंदिरजीर्णोद्धार आदि अनेक कार्य किये, उस वक्त जैनधर्म का बड़ा उद्योत हुआ, उन्होंने कलिकाल में धर्म का उद्धार किया, वे मुनि जयवंत हों। उनके अतिशय को देखकर कितनों ही ने संयम ग्रहण किया। ‘नन्दी’ आदि उनके शिष्य हुए, जिन्हें चारों दिशाओं में भव्यों के संबोधनार्थ भेजा गया। उस वक्त जिनधर्म पृथिवी पर प्रकट हुआ। कुन्दकुन्द ने पुनः सिद्धान्तों को प्रकट किया, कितने ही ग्रन्थ रचे जिनमें समयसारादि कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त ‘श्रावकाचार’^{१५}, ‘जिनेन्द्रस्नानपाठ’ तथा ‘प्रभुपूजन’ जैसे ग्रन्थों के नाम भी दिये हैं और फिर लिखा है कि उन्होंने सर्व प्राणियों के हितार्थ ग्रन्थों में विस्तार के साथ पूजाविधि तथा स्नानविधि का निर्माण किया है।”

यह पिछला वाक्य इस प्रकार है—

पूजाविधिस्तथास्नानविधिर्विस्तारतः खलु।

ग्रन्थेषु निर्मितस्तेन सर्वभूतहिताप्तये॥३५१॥

इसके अनन्तर मानो भगवान् को फिर कुछ होश आई और वे भूत वर्णना को छोड़कर पुनः भविष्य कथन के रूप में कहने लगे— “हे चेलनाकान्त (श्रेणिक)! इत्यादि सम्पूर्ण ग्रन्थों को वह धर्मबुद्धि मुनि जिनधर्म की प्रभावना के लिये करेगा (रचेगा), अपनी सिद्धि तथा भव्यों के संबोधनार्थ हे राजन्! वह यतीन्द्र पृथ्वी पर विहार करेगा और भव्यों को संबोधता हुआ धर्म को बढ़ाता हुआ मिथ्यान्धकार का नाश करेगा।” यथा—

इत्यादिसकलान् ग्रन्थान् चेलकान्तसुधर्मभाक्।

करिष्यति प्रभावार्थं जिनधर्मस्य धर्मधीः॥३५२॥

स यतीन्द्रः स्वसिद्ध्यर्थं विहारं च करिष्यति।

तदावनौ नराधीश भव्यबोधार्थमंजसा॥३५३॥

१५. ‘कुन्दकुन्दश्रावकाचार’ की परीक्षा की जा चुकी है और वह महाजाली सिद्ध हुआ है मालूम होता है इसी तरह पर और भी कितने ही ग्रन्थ कुन्दकुन्द के नाम से जाली बनाये गये हैं, जिनमें ‘जिनेन्द्रस्नानपाठ’ और ‘प्रभुपूजन’ जैसे ग्रन्थ भी उसी कोटि के जान पड़ते हैं। अभिषेक और पूजन जैसे विषय उस वक्त खास विवादास्पद थे और अधिकांश वे ही तेरहपंथ और बीस पंथ के झगड़े की जड़ बने हुए थे। भट्टारकों तथा भट्टारकानुगामियों ने इन विषयों के सम्बन्ध में अपनी मान्यताओं के पीछे युक्तिबल न देखकर प्राचीन आचार्यों के नाम पर अनेक जाली ग्रन्थों की रचना की है, और कितनी ही बातें दूसरे ग्रन्थों में प्रक्षिप्त भी की हैं।

भव्यान् सम्बोधयन् धर्मं वर्द्धयन् वचनोत्करैः।

मिथ्यान्धतमसं सैव हनिष्यति भवाब्धिदम्॥३५४॥

परन्तु यह होश कुछ अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकी, उक्त कथन के अनन्तर ही पलट गई अथवा यों कहिये कि भगवान् के ज्ञान का क्षण भर में कुछ ऐसा विपर्यास (उलटफेर) हो गया कि उसमें भविष्यकालीन घटनाएँ भूतकालीन के रूप में झलकने लगीं और इसलिये भगवान् गिरनार पर्वत पर होने वाले कुन्दकुन्द के वृत्तान्त को सुनने की प्रेरणा करते हुए कहने लगे—

“एक दिन उन कुन्दकुन्द मुनीश्वर ने नेमि जिनेन्द्र की यात्रा के लिये गमन किया, उनके साथ बहुत से भव्य पुरुष स्त्रियों सहित चले, मुनि भी चले, आर्यिकाएँ भी चलीं, उस चतुर्विध संघ में ७०० मुनि थे, १४०० आर्यिकाएँ थी, ३५ हजार श्रावक थे और ७० हजार श्राविकाएँ थी। इतने बड़े संघ के साथ कुन्दकुन्द मुनि गिरनार पर्वत के वन में पहुँचे और सबने मार्गश्रम-निवारणार्थ अपने अपने योग्य स्थान पर डेरा किया। अब दूसरी कथा सुनो— उसी वन में नेमि जिन की यात्रा के लिये श्वेताम्बरों का महान् संघ भी आ पहुँचा, जिसमें नानातिशय सम्पन्न २४० यति थे। जिन्हें नाम के यति, रसों से अपना शरीर पुष्ट करने वाले तथा मदोद्धत बतलाया गया और उनके आज्ञापालक दो लाख मनुष्य (श्रावकजन) और थे^{१६} पहले आये हुए संघ ने कुन्दकुन्द को आगे कर जिस समय यात्रा के लिये प्रस्थान किया, उस वक्त श्वेताम्बरों ने जिन्हें ‘खल’ तक कहा गया, आकर उसे रोका और कहा कि पहले हम यात्रा करेंगे, क्योंकि हमारा मत सबसे पहला है और हम सबमें वृद्ध है। इस पर कुन्दकुन्द ने ‘वसुपाल’ नाम के एक श्रावक को बुलाकर और उसे भले प्रकार शिक्षा देकर श्वेताम्बरों के पास भेजा, जिसने कुछ समझाने के अनन्तर श्वेताम्बरों से कह दिया कि यदि तुम्हारी वाद की शक्ति हो तो शीघ्र आकर वाद कर लो। जो संघ जीतेगा, वही पहले तीर्थयात्रा करेगा। इस तरह श्वेताम्बरों को क्षुभित कर उसने सब वृत्तान्त आकर गुरु से कह दिया, तब कुन्दकुन्द सर्व संघ सहित गिरनार पर्वत के समीप ही ठहर गये। वहीं पर श्वेताम्बरी लोग वाद के लिये आ गये। श्वेताम्बरों के मुख्याचार्य शुक्लाचार्य के साथ कुन्दकुन्द का वाद हुआ। शुक्लाचार्य जब युक्तिवाद में हार गया तब उसे कोप हो गया और उसने अपने मंत्रबल से कुन्दकुन्द के कमण्डलु में मछलियाँ बना दीं, इशारा पाकर उनके एक शिष्य ने कुन्दकुन्द से पूछा ‘आपके कमण्डलु में क्या है?’ कुन्दकुन्द ने कहा— अपने गुरुजी से ही पूछो, वे आदि मत के धारक हैं, उसने तब गुरु से पूछा और गुरु ने मद से आकर लोगों को संबोधन करते हुए कहा देखो, यह मुनि जीवभक्षक है” (क्योंकि इसके कमण्डलु में मछलियाँ हैं)। “यह

१६. इससे मालूम होता है कि दोनों संघों के मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविकाओं की संख्या तीन लाख सात हजार तीन सौ चालीस थी। तब उनके साथ ५० हजार के करीब गाड़ियाँ और इतने ही गाड़ीवान (हांकने वाले) तथा ५० हजार के करीब दूसरे नौकर चाकर और एक लाख से ऊपर बैल घोड़े ऊँट वगैरह सवारी तथा बारबदारी के जानवर भी होंगे। इतने बड़े जनादि समूह का एक ही वक्त में गिरनार पर्वत की तलहटी के एक वन में समा जाना ग्रन्थकार को शायद कुछ अस्वाभाविक प्रतीत नहीं हुआ!!

सुनकर कुन्दकुन्द ने सीमंधर स्वामी को नमस्कार करके कमंडलु को ओंथा कर दिया और उसमें से पद्मपुष्पों का समूह नीचे गिर पड़ा, जिसकी सुगन्ध से उसी क्षण वहाँ भँवरे आ गये॥ इस अतिशय को देखकर संघ के सब लोग बड़े प्रसन्न हुए, लोगों ने 'पद्मनन्दी' नाम से कुन्दकुन्द की स्तुति की और श्वेताम्बरों के चेहरे मलिन हो गये। उसी वक्त से कुन्दकुन्द मुनि 'पद्मनन्दी' नाम से प्रसिद्ध हुए।”

“फिर शुक्लाचार्य और कुन्दकुन्द का और भी वाद (मंत्र वाद) हुआ, मन्त्रबल से शुक्लाचार्य ने कुन्दकुन्द की पिच्छि को आकाश में रख दिया और कुन्दकुन्द ने शुक्लाचार्य के शरीर से वस्त्रों को उतार कर उसके पास रख दिया, इस तरह दोनों का महान् वाद हुआ वह पिच्छि तो स्वामी के पास आ गई परन्तु वे वस्त्र वहीं रहे।”

“पुनः कुन्दकुन्द स्वामी ने शुक्लाचार्य से कहा कि यदि तुम्हारा धर्म आदि धर्म है तो इस पाषाणनिर्मित सरस्वती की मूर्ति से कहलाओ, जिसको यह मूर्ति आदि मत कह देगी उसी की पहले यात्रा होगी, शुक्लाचार्य ने इसे स्वीकार किया और अपने मन्त्रबल से मूर्ति को बोलने के लिये प्रेरित किया परन्तु मूर्ति ने बोलकर नहीं दिया, इससे शुक्लाचार्य का मुंह काला पड़ गया। तब कुन्दकुन्द ने पिच्छि हाथ में लेकर और सीमंधर स्वामी को नमस्कार कर उस सरस्वती से सत्यवाणी बोलने को कहा, उसे सुनते ही वह पाषाण की मूर्ति बोलने लगी, उसने दैगम्बर मत को तीन बार 'आदिमत' बतलाया, उसकी बहुत कुछ प्रशंसा की और फिर शुक्लाचार्य को अपना संकल्प छोड़ने की प्रेरणा करते हुए वह मौनस्थ हो गई। सरस्वती के प्रभाव से श्वेताम्बर यतियों के सर्व देवता कुत्तों की तरह भाग गये!^{१७} और दिगम्बर पक्ष की जय हुई।”

“तत्पश्चात् कुन्दकुन्द ने चतुर्विध संघ के साथ श्री नेमिजिनेन्द्र का सानन्द दर्शन किया और वहीं पर 'सरस्वती' नाम का गच्छ तथा 'बलात्कार' नाम का गण स्थापित किया, अपने नाम का वंश क्रायम किया और अपने शिष्यों की 'नन्दि' आदि आम्नाय क्रायम की और कहा कि सर्व संघों में मूल संघ मुख्य है, अतः आज से तुम इसको भजो। सिद्धभूमि की यात्रा करके कुन्दकुन्द मुनि अपने स्थान को वापस आ गये और तप करने लगे। एक दिन ध्यान के समय उनकी गर्दन टेढ़ी हो गई, वे उसके कारण का विचार करने लगे तो सरस्वती ने आकर कहा कि अकाल मैं जैन सिद्धान्तों को पढ़ने के दोष से ग्रीवा में यह वक्रता आई है, अकाल मैं जैन सिद्धान्तों को नहीं पढ़ना चाहिए। इस पर कुन्दकुन्द ने अपनी निन्दा की और उस दोष की शान्ति के लिये सीमंधर स्वामी का स्तवन किया, तब सरस्वती ने अवक्रता प्रदान की और वह 'वक्रग्रीव' नाम देकर अपने स्थान चली गई। इसी से कुन्दकुन्द का तीसरा नाम 'वक्रग्रीव' हुआ। 'एलाचार्य' नाम विदेह क्षेत्र से पड़ा, और विमान में पिच्छिका के गिर जाने पर देवों ने गृद्धपिच्छिका दी थी, इससे 'गृद्धपिच्छाचार्य' नाम पृथ्वी पर प्रसिद्ध हुआ। इस तरह वे मुनि पाँच नामों से प्रसिद्धि को प्राप्त हुए।”

यह पिछला वाक्य इस प्रकार है—

१७. इस वाक्य के द्वारा भगवान् महावीर की भाषासमिति का, संयत भाषा का अच्छा प्रदर्शन किया गया है।

एवं पंचाभिधानेन स मुनिः सकलार्थवित्।

आसीत् विख्याततां पूज्यः विपक्षविजयात्सुरैः॥४५३॥

इसके बाद भगवान् महावीर कुन्दकुन्द की भक्ति में कुछ ऐसे डूबे कि वे इस बात को ही भूल गये कि हम तीर्थङ्कर हैं, सर्वज्ञ हैं, कुन्दकुन्द हमारे पीछे शताब्दियों बाद कलिकाल में एक छद्मस्थज्ञानी साधु होने वाला है, और इसलिये उन्होंने, मानो अपने को कलिकालीन अनुभव करते हुए, एक पूर्व महर्षि के तौर पर कुन्दकुन्द को नमस्कार किया, उनके चरणों की वन्दना की और उनका स्तोत्र तब रच डाला, जिसमें श्वेताम्बरों को गाली दी गई। उन्हें 'खलाशय' तथा 'क्रूर' बतलाया गया, कुन्दकुन्द मुनीन्द्र ने ही इस कलियुग में शास्त्रादि की रचना की है ऐसा कहा गया और कहा गया कि उनके समान इस काल में न कोई हुआ और न होगा। साथ ही, उनकी माता को भी धन्यवाद दिया गया जिसकी कोख से ऐसा पुत्र पैदा हुआ। इतने पर से भी तृप्त न होते हुए पुनः भगवान् 'चित्तरोधार्थ' पाँच नामों का बखान कर कुन्दकुन्द का स्तवन करने लगे। इस कथन के सूचक वाक्य इस प्रकार हैं—

अश्मजा वादिता येन भंगमाप्ताः खलाशयाः।

स्वेतवासोधराः क्रूराः तस्मै श्रीमुनये नमः॥४५४॥

सीमंधरजिनेन्द्रस्य येनाप्तं दर्शनं शुभम्।

प्राचीनपुण्ययुक्तेन तस्य पादौ नमाम्यहम्॥४५५॥

अस्मिन् कलौ मुनीन्द्रेण तेनैव रचना कृता।

शास्त्रादीनामहो भव्याः तस्मै नमोऽस्तु सर्वदा॥४५६॥

कुन्दकुन्दसमश्चास्मिन् काले मिथ्यात्वसंभृते॥

नाभूत्रैव पुनश्चात्र भविष्यति सुनिश्चयात्॥४५७॥

धन्या सा जननी लोके यस्याः कुक्षौ सुरैः स्तुतः।

अभूद्वै ईदृशः पुत्रो मिथ्यान्धतमःपूषणः॥४५८॥

कुन्दकुन्दमुनीन्द्रस्य तस्यैवाहं करोमि वै।

स्तवनं चित्तरोधार्थं नित्याहसो विनाशकम्॥४५९॥

इसके बाद कुन्दकुन्द के स्तवन का माहात्म्य बतलाकर भगवान् ने कहा कि “इस तरह धर्ममार्ग को प्रकट करने के पश्चात् कुन्दकुन्द ने अपनी आयु का एक महीना अवशिष्ट जानकर समाधि सिद्धि के लिये अपने नगर के बाह्यस्थ वन में गमन किया और वहाँ क्रमशः सर्व आहार का त्यागकर, मंत्रराज का श्रवण स्मरण और पंचपरमेष्ठी तथा सीमंधर स्वामी का ध्यान करते हुए, समाधिपूर्वक प्राण त्यागकर स्वर्ग प्राप्त किया। चौथे काल में वे मोक्ष जायेंगे।” और इसके अनन्तर ही वे कुन्दकुन्द के गुणों का तथा उनके पुण्य का पुनः कीर्तन करने लगे और यहाँ तक कह गये कि ‘हे यतिराज! हमारी और तुम्हारी सदा रक्षा करो (‘यतीराज स पातु नो वः सदा’ ४९१)! हमारी संसार से रक्षा करो (‘न पातु संसारतः’ ४९४)! साथ ही उन्होंने पुण्योपार्जन की प्रेरणा की और फिर राजा श्रेणिक को संबोधन

कर 'इत्थं श्रेणिकभूप सर्वगदितं वृत्तं मया तेऽखिलम्' इत्यादि रूप से वह उपसंहारात्मक अन्तिम वाक्य (पद्य नं० ४९७) कहा जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है और उसमें बतलाया है कि "हे राजा श्रेणिक! इस तरह श्री कुन्दकुन्द का यह सब पूरा निर्मल चरित्र मैंने तुझसे कहा है, इसे तू चित्त में धारण कर, यह पूज्योदय को लिये हुए पाप समूह का नाश करने वाला, मन को शुद्ध करने वाला, आनन्द का देने वाला, आगामी काल में धर्म का बढ़ाने वाला और देवों से पूज्य है।"

इस प्रकार यह भूत-भविष्यतादि के विवेकरहित ग्रन्थकार का भगवान् महावीर के नाम पर असम्बद्ध प्रलाप है। ग्रन्थकार को यह सब लिखते हुए इतनी भी होश रही मालूम नहीं होती कि वह अपने कथन के पूर्वापर सम्बन्ध को ठीक समझ सके अथवा यह जान सके कि भगवान् महावीर कब हुए हैं- चतुर्थ काल में या इस पंचम (कलि) काल में और उनकी क्या पोजीशन थी? और इसलिये उसे यह खबर नहीं पड़ी कि मैं भगवान् के मुख से भविष्य में होने वाले कुन्दकुन्द मुनि का जो वर्णन करा रहा हूँ वह भविष्यवर्णना के रूप में ही होना चाहिए भूतवर्णना के रूप में नहीं, और न यही समझ पड़ी कि सर्वज्ञ भगवान् के मुख से कहे जानेवाले शब्द कितने संयत, कितने उदार, कितने गंभीर और कितने सत्यमय होने चाहिए। इसी से उसने उन्मत्त की तरह यद्वा-तद्वा कहीं भविष्यकाल की क्रिया का और कहीं भूतकाल की क्रिया का प्रयोग कर डाला! साथ ही, सत्य-असत्य, उचित-अनुचित, कहने योग्य और न कहने योग्य, जो जी में आया भगवान् के मुख से कहला डाला!! इस तरह ग्रन्थकार ने अपनी मूर्खता, अपनी अज्ञता, अपनी अनुदारता, अपनी साम्प्रदायिकता, अपनी कट्टरता और अपनी मिथ्या धारणा को भगवान् महावीर के ऊपर लादकर उन्हें मूर्ख, अज्ञानी, अनुदार, साम्प्रदायिक, कट्टर और असत्य-भाषी ठहराने की अक्षम्य धृष्टता की है!!!

अनुवादक महाशय ब्र० ज्ञानचन्द्र को भी ग्रन्थकार का यह असम्बद्ध प्रलाप कुछ खटका जरूर है परन्तु उन्होंने ग्रन्थकार के सुर में सुर मिलाकर उसे छिपाने तथा उस पर पर्दा डालने की जघन्य चेष्टा की है। उसने श्लोक नं० १९८ का अर्थ देने के बाद एक विचित्र वाक्य इस प्रकार लिख दिया है-

"आगे ग्रन्थकार उस कथन के अनुसार स्वयं वर्णन करते हैं।"

परन्तु ग्रन्थकार ने ग्रन्थ में कहाँ ऐसी सूचना की है, इसे वे बतला नहीं सके और न यह सुझा सके हैं कि ग्रन्थकार को अपने ग्रन्थ की पूर्वप्रतिज्ञा (श्लोक नं० १५७) के विरुद्ध ऐसा करने की जरूरत क्यों पैदा हुई? वह भगवान् को बीच में कहते कहते छोड़कर अपना राग क्यों अलापने लगा? और पूर्व-कथन में भी जो कहीं कहीं भूतकालीन वाक्य पाये जाते हैं उनका तब क्या बनेगा? इससे यह सब अनुवादक महाशय की निजी निःसार कल्पना है। उन्हें इस कल्पना को करते हुए इतनी भी समझ नहीं पड़ी कि हमारे 'उस कथन' शब्दों का वाच्य भगवान् का भविष्यवर्णनारूप कथन है या भूतवर्णनारूप, यदि भूतवर्णनारूप है तो असम्बद्ध प्रलाप ज्यों का त्यों स्थिर रहता है और यदि भविष्यवर्णनारूप है तो उसके अनुसार ग्रन्थकार का कथन भी भविष्यवर्णनारूप होना चाहिए था, जो नहीं है, और न यही खबर पड़ी कि श्लोक नं० १९८ के बाद से यदि ग्रन्थकार ने बिना किसी सूचना

के ही स्वयं अपने तौर पर वर्णन करना प्रारम्भ कर दिया था तो फिर आगे चलकर श्लोक नं० ३५२ से भगवान् राजा श्रेणिक को संबोधन करते हुए बीच में क्यों बोल पड़े? वहाँ उनके इस बीच में कूद पड़ने की अथवा बिना बुलाये बोल उठने के कारण की अनुवादक महाशय ने भी कोई सूचना नहीं की! क्या ग्रन्थकार के सामने भी उसके संबोधन के लिये राजा श्रेणिक मौजूद थे? यदि ऐसा कुछ नहीं तो फिर क्या अनुवादक महाशय अपने उक्त वाक्य-प्रयोग के द्वारा यह सुझाना चाहते हैं कि भविष्यवर्णनारूप जितना कथन है वह तो खास महावीर का कथन है—उन्हीं के शब्दों में ज्यों का त्यों उनके मुख से निकला हुआ है, उसमें तदनुसार कथन की कोई बात नहीं और शेष कथन ग्रन्थकार का अपने तौर पर किया हुआ कथन है? यदि ऐसा है तब भी असम्बद्ध प्रलाप का दोष दूर नहीं होता, क्योंकि भविष्य वर्णना के कथनों को क्रमशः मिलाकर और इसी तरह भूतवर्णना के कथनों को क्रमशः मिलाकर अलग अलग पढ़ने पर वे और भी ज्यादा असम्बद्ध मालूम होते हैं। उदाहरण के तौर पर यदि ‘तद्विमाने समारूह्य यास्यति’ इत्यादि श्लोक नं० १९८ के बाद ‘इत्यादि सकलान् ग्रन्थान्’ नाम के भविष्यवर्णना वाले श्लोक नं० ३५२ को पढ़ें तो वह कितना असम्बद्ध तथा बेढंगा मालूम देगा और उससे भगवान् की मूर्खता, असमीक्ष्यकारिता और उन्मत्त प्रलापता कितनी अधिक बढ़ जायेगी, क्योंकि बीच के सारे कथन सम्बन्ध को छोड़ देने पर भी श्लोक नं० ३४२ में प्रयुक्त हुआ ‘इत्यादि’ शब्द अपने पहले कुछ ग्रन्थों के नामोल्लेख को मांगता है, जिसका महावीर की भविष्यवर्णना में अभाव है। अतः इस असम्बद्ध प्रलाप के ऊपर किसी तरह भी पर्दा नहीं डाला जा सकता—प्रकरण के आदि अन्त के ऊपर उद्धृत किये हुए दोनों प्रतिज्ञा और उपसंहार वाक्य (नं० १५७, ४९७) ही इस बात को स्पष्ट बतला रहे हैं कि यह सारा वर्णन भगवान् महावीर के मुख से राजा श्रेणिक के प्रति कहलाया गया है। अनुवादक महाशय ने व्यर्थ ही भोले पाठकों की आँखों में धूल डालने का यह निंद्य प्रयत्न किया है। वास्तव में अपने इस प्रयत्न द्वारा ग्रन्थकार की स्पष्ट मूर्खतादि का पक्ष लेकर उन्होंने खुद को तत्सदृश सिद्ध किया है।

खेद है कि मुनि शान्तिसागर जी आचार्य बनकर और कलिकाल सर्वज्ञ कहलाकर भी ग्रन्थकार के इतने मोटे असम्बद्ध प्रलाप को समझ नहीं सके, न अपने चले ब्रह्मचारी (वर्तमान क्षुल्लक ज्ञानसागर) की उक्त करतूत (लीपापोती) को ही परख सके हैं और यों ही बिना समझे गणधर चेलों के जाल में फंसकर ऐसे जाली ग्रन्थ के प्रशंसक बन बैठे हैं और अपने संघ द्वारा उसका प्रचार करते तथा होने देते हैं, जो भगवान् महावीर के पवित्र नाम को कलंकित करने वाला है। अस्तु!

इस असम्बद्ध प्रलाप के भीतर जो असत्य प्रलाप भरा हुआ है और ऐतिहासिक तथ्यों के विरुद्ध कितना ही कथन पाया जाता है उस सबको यहाँ प्रकट करने का अवसर नहीं है, अवकाश मिला तो उसका कुछ अंश किसी दूसरी जगह प्रकट किया जायेगा—कुछ संकेतमात्र नं० २ में दिया भी जा चुका है। यहाँ पर सिर्फ इतना ही जान लेना चाहिए कि ऐसा असम्बद्ध प्रलाप भगवान् महावीर जैसे आप्त पुरुषों का नहीं हो सकता। चूँकि प्रतिज्ञा और उपसंहार वाक्यों आदि के द्वारा उसे साफ तौर पर भगवान्

का प्रकट किया गया है, अतः इस पर से ग्रन्थ का जालीपन और भी निःसंदेह हो जाता है और वह स्पष्टतया जाली तथा बनावटी सिद्ध होता है। साथ ही, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वह ग्रन्थकार के कथनानुसार किसी 'अनागतप्रकाश' नाम के प्राचीन ग्रन्थ से उद्धृत किया गया मालूम नहीं होता, बल्कि अधिकांश में ग्रन्थकार के द्वारा कल्पित किया गया और कुछ इधर-उधर के भूतवर्णना वाले आधुनिक भट्टारकीय ग्रन्थों पर से अपनी नासमझी के कारण उठाकर रखा गया जान पड़ता है। और इसी से वह इतना बेढंगा बन गया है।

४. तेरहपंथियों से भगवान् की झड़प

ग्रन्थ में भगवान् महावीर के मुख से भविष्य कथन के रूप में जो असम्बद्ध प्रलाप कराया गया है, वह नं० ३ में दिये हुए कुन्दकुन्द के प्रकरण के साथ ही समाप्त नहीं होता, बल्कि दूर तक चला गया है। अगले प्रकरणों को पढ़ते हुए भी ऐसा मालूम होता है मानों भगवान् कहीं-कहीं तो ठीक भविष्य का वर्णन कर रहे हैं और कहीं एकदम विचलित हो उठे हैं और उनके मुख से कुछ का कुछ निकल गया है—कथन का कोई भी एक सिलसिला और सम्बन्ध ठीक नहीं पाया जाता। कुन्दकुन्द-प्रकरण के अनन्तर अगले कथन का जो प्रतिज्ञावाक्य दिया है, वह इस प्रकार है—

अथापरं शृणु भूप पंचमसमयस्य वै।

वृत्तान्तं भाविकं वक्ष्ये सर्वचिन्तासमाधिना॥४९९॥

इसमें साफ तौर पर पंचम काल के दूसरे भावी वृत्तान्त के कथन की प्रतिज्ञा करते हुए राजा श्रेणिक से उस वृत्तान्त को सुनने की प्रेरणा की गई है। परन्तु इसके अनन्तर ही, भावी वृत्तान्त की बात को भुलाकर, भगवान् ने अभिषेकादि छह क्रियाओं का उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया है! और उसके द्वारा वे खुद ही अपनी पूजा-अर्चा का विधान करने बैठ गये हैं! यहाँ तक कि जपक्रिया के मंत्रों में उन्होंने अपना नाम भी 'सर्वकर्मरहिताय श्रीमहावीर-जिनेश्वराय सदा नमः' इत्यादि रूप से जपने के लिये बतला दिया है!! साथ ही अपने परम आराध्य कुन्दकुन्द के नाम का मंत्र देना भी वे नहीं भूले हैं और उन्होंने कुन्दकुन्द के नाम वाले मंत्र को तीन बार 'नमोस्तु' के साथ जपने की व्यवस्था करके उनके प्रति अपनी गाढ़ श्रद्धा-भक्ति का परिचय दिया है!!! अभिषेक क्रिया के वर्णन में उन्होंने जल, इक्षुरस, घृत, दुग्ध और दधिरूप पंचामृत से जिनेन्द्र के-और इसलिये अपने भी-स्नान का विधान ही नहीं किया, बल्कि 'स्नानं कुरुध्वं बुधाः' (५०८) जैसे वाक्यों द्वारा उसकी साक्षात् प्रेरणा तक की है। साथ ही, उसकी दृढ़ता के लिये ऐसे अभिषेक का फल भी मेरु पर्वत पर देवताओं द्वारा अभिषेक किया जाना आदि बतला दिया है, और एक नजीर भी प्रोत्साहनार्थ तथा इस क्रिया को मुख्यता प्रदान करने के लिये दे डाली है, और वह यह कि देवता लोग भी पहले भगवान् का अभिषेक करके पीछे सम्पत्ति को अंगीकार करते हैं— दूसरे कामों में लगते हैं।^{१८} इसी तरह पूजन क्रिया के वर्णन में उन्होंने

१८. इससे यह कथन अगले भविष्यकथन की प्रस्तावना या उत्थानिका की कोटि से निकल जाता है और एक असम्बद्ध प्रलाप के रूप में ही रह जाता है।

भगवच्चरणों के आगे जल की तीन धाराएं छोड़ने, केसर, अगर-कपूर को घिसकर जिन-चरणों पर लेप करने और जिन-चरणों के आगे सुन्दर अक्षतों, कुन्द-कमलादि के पुष्पों तथा सर्व प्रकार के पक्वान्न व्यंजनों को चढ़ाने, हजारों घृतपूरित दीपकों का उद्योत करने, सुगंधित धूप जलाने और केला आम्रादि फलों को अर्पण करने रूप अष्टद्रव्य से पूजन का विधान ही नहीं किया किन्तु “एवं बुधोत्तमा जिनपते: इज्यां कुरुध्वं च भो” (६२२) जैसे वाक्यों द्वारा उस प्रकार से पूजन की साक्षात् प्रेरणा भी की अथवा आज्ञा तक दी है। साथ ही ऐसे प्रत्येक द्रव्य से पूजन का फल ही नहीं बतलाया बल्कि इन द्रव्यों से पूजन करके फल प्राप्त करने वालों की आठ कथाएं भी दे डाली हैं^{१९} जिससे इस प्रकार के पूजन की पुष्टि में कोई कोर कसर बाकी न रह जाये! शेष जप, स्तुति, ध्यान और गुरुमुख से शास्त्रश्रवण^{२०} नाम की क्रियाओं का विधान भी भगवान् ने प्रेरणा तथा फलवर्णना के साथ किया है, परन्तु उनके विषय में भविष्य का कोई खास उल्लेख नहीं किया गया।^{२१} इसके बाद वे फिर से पूर्णाहुति के तौर पर उक्त छहों क्रियाओं का उपदेश देने बैठ गये हैं! और इतने पर भी तृप्त न होकर थोड़ी देर बाद उन्होंने जलगंधाक्षतादि जुदे-जुदे द्रव्यों से पूजन का वही राग पुनः छोड़ दिया है!!

हाँ, बीच-बीच में जब कहीं उन्हें दिगम्बर तेरहपंथी नजर पड़ गये हैं या उनसे भी चार कदम आगे तारनपंथी और स्थानकवासी दिखलाई दे गये हैं तो भगवान् अपने को संभाल नहीं सके, वे आवेश में आकर एकदम उन पर टूट पड़े हैं और समवसरण में बैठे-बैठे ही भगवान् की उनके साथ अच्छी खासी झड़प हो गई है! भगवान् ने उन्हें मूर्ख, मूढ़, कृतघ्न, गुरुनिन्दक, आगमनिन्दक, जिनागमप्रघातक, जैनेन्द्रमतघातक, मदोद्धत, क्रूर, सुबोधलव-वर्जित, क्रियालेशोज्झित, वचनोत्थापक, मिथ्यात्वपथसेवक, मायावी, खल, खलाशय, जडाशय, धर्मघ्न, धर्मबाह्य, कापट्यपूरित, जिनाज्ञालोपक, कुमार्गगामी और अधम आदि कहकर अथवा इस प्रकार की गालियाँ देकर ही संतोष धारण नहीं किया, बल्कि उन्हें श्वपचतुल्य (चाण्डालों के समान) और सप्तम नरकगामी तथा निगोदगामी तक बतला दिया है!!! अभिषेक और पूजन क्रियाओं के सम्बन्ध में भविष्यवर्णनारूप से जो कथन किया गया

१९. ये कथाएँ पंचमकाल के भाविक वृत्तान्त के वर्णन में बहुत कुछ असम्बद्ध जान पड़ती हैं, और इनसे यह कथन अगले भविष्यकथन की प्रस्तावना या उत्थानिका की कोटि से और भी ज्यादा निकल जाता है तथा एक प्रलाप के रूप में ही रह जाता है।

२०. ग्रन्थों का स्वतः स्वाध्याय कर लोग कहीं भक्त भट्टारकों के शासन से निकल न जायें, उन पर नुक्ताचीनी करने वाले तेरहपंथी न बन जायें, इसी से शायद गुरुमुख से शास्त्रश्रवण की यह बात रखी गई जान पड़ती है। अनुवादक जी ने ‘ग्रन्थान् भव्याः गुरोरास्यात् शृणुध्वम्’ का अर्थ “ग्रन्थों का स्वाध्याय गुरुमुख से ही श्रवण करना चाहिए” देकर इसकी मर्यादा को और भी बढ़ा दिया है, परन्तु खेद है कि वे अपने इस वाक्य में प्रयुक्त हुए ‘ही’ शब्द पर खुद अमल करते हुए नजर नहीं आते!!

२१. इन क्रियाओं के साथ में भविष्य का कोई वर्णन न रहने से इनका कथन प्रतिज्ञात भाविक वृत्तान्त के साथ और भी असंगत हो जाता है और बिल्कुल ही निरर्थक ठहरता है।

है वह प्रायः उन्हीं को लक्ष्य करके कहा गया है।^{२२} ये पंचम काल के (कलियुगी) लोग इन क्रियाओं को नहीं मानेंगे अथवा अमुक विधि से अभिषेक-पूजा नहीं करेंगे, क्रियाओं का उत्थापन करेंगे, नया नया मार्ग चलाएंगे, शास्त्रों के वचन का लोप करेंगे, ग्रन्थों को दोष लगाएंगे, संस्कृत प्राकृत ग्रन्थ नहीं

२२. इस प्रकरण के भविष्यवर्णनावाले अधिकांश वाक्य इस प्रकार हैं, जिन्हें पढ़कर विज्ञ पाठक स्वयं जान सकेंगे कि वे तेरहपंथियों आदि को लक्ष्य करके ही लिखे गये हैं—

(१) कलौ वै मानवा मूढा चाभिषेकक्रियामिमाम्। नूनमुत्थापयिष्यन्ति स्वस्वमतिविपर्ययात्॥५०९॥

शास्त्राणां वचनं मूर्खा लोपयिष्यन्ति निश्चयात्। नूतनं नूतनं मार्गं करिष्यन्ति स्वकीर्तये॥५१०॥

दास्यन्ति सर्वग्रन्थानां दोषं स्वमतिसम्बलान्। संस्कृतं प्राकृतं ग्रन्थं वाचयिष्यन्ति नैव च॥५११॥

स्वं स्वं कल्पित वाक्यं च मानयिष्यन्ति ते नराः। जैनागमविनिर्मुक्ता आचार्यागमनिन्दकाः॥५१२॥

स्वस्वमतस्य पक्षस्य पालका गुरुनिन्दकाः। कृतघ्नाः ते भविष्यन्ति जैनैन्द्रमतघातकाः॥५१३॥

इनके अनन्तर ही 'द्वितीया च क्रिया प्रोक्ता' इत्यादि रूप से पूजन क्रिया का वर्णन है।

(२) अनेन विधिना भूप कलौ मूढाश्च ये नराः। करिष्यन्ति जिनेन्द्राणां पूजां नैव मदोद्धताः॥६२३॥

तस्मिन् तदुद्धवाः क्रूराः सुबोधलववर्जिताः। वचनोत्थापकाः स्वस्यागमस्यैव प्रतिश्चयात्॥६२४॥

इनके बाद 'अंगपूर्वानाराधीश स्थास्यन्ति मत्परं खलु' इत्यादि रूप से भविष्यवर्णना के जो चार श्लोक दिये हैं और श्लोक नं० ६४० तक भूतादिवर्णना को लिये जो वाक्य दिये हैं उनका प्रस्तावित पूजनक्रिया के साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं है।

(३) कलौ धर्मप्रकाशार्थं सर्वलोकस्य साक्षितः। नूतनां स्थापनां लोकाः करिष्यन्ति च मायिनः॥६४१॥

केचिच्च द्वेषका मर्त्याः केचिच्च सेवकाः खलु। एवं तस्मिन् भविष्यन्ति कलौ च मगधाधिपः॥६४२॥

जैनागमसुवाक्येषु ह्यमीषां मगधेश्वर। निश्चयो न भविष्यति संशयाधीनचेतसाम्॥६४३॥

ग्रन्थानां पूजकाः केचित् जिनबिम्बस्य निन्दकाः। कलौ भेदा ह्यनेके च ज्ञातव्या श्रेणिक त्वया॥६४४॥

वसुभूपालवत्त्वस्य मतस्य ते नराः खलाः। दृढं पक्षं करिष्यन्ति सप्तधावनि दुःखदम्॥६४५॥

जिनात्तपुरुषाणां च केचिच्छ्रद्धानिका नराः। खला निन्दां करिष्यन्ति जिनागमप्रघातकाः॥६४६॥

पूर्वाचार्यकृतां सर्वामभिषेकादिकां क्रियाम्। तस्मिन्नुत्थापयिष्यन्ति ते मूढाः पञ्चमोद्धवाः॥६४७॥

नूतनां नूतनां सर्वां करिष्यन्ति जडाशयाः। ते नराश्च क्रियां भूप स्वस्वमतिविकल्पतः॥६४८॥

वयं श्रद्धानिका यूयं मिथ्यात्वपथसेवकाः। मानयिष्यन्ति ते चित्ते क्रियालेशोज्झिताः खलु॥६४९॥

स्वधीकल्पितग्रन्थान् वै स्वाध्याये पूजनादिके। कार्ये प्रवर्तयिष्यन्ति नो तद्धिते खलाशयाः॥६५०॥

इत्थं जैनैन्द्रधर्मस्य मध्ये भेदोत्कराः खलु। तस्मिन्नेव भविष्यन्ति स्वस्वमतविनाशकाः॥६५१॥

इसके पश्चात् हुंदावसर्पिणी काल की कुछ घटनाओं का उल्लेख ६६० नम्बर तक है।

(४) साधर्मि पुरुषाणां च निन्दां ते श्रावकाः खलाः। करिष्यन्ति कलौ भूप निन्दायाः किं फलं भवेत्॥६६१॥

आगे नम्बर ६८१ तक निन्दा का फल दिया है।

(५) ह्येवं सर्वं भविष्यन्ति कलौ भूप न संशयः। स्वचित्ते मानयिष्यन्ति वयं श्रद्धानिकाः खलु॥६८२॥

ग्रन्थलोपजपापेन ते च श्रद्धानिकाः खलु। नरकावनौ च यास्यन्ति सर्वे हि मगधेश्वराः॥६८३॥

बाँचेंगे, अपनी ही बुद्धि से कल्पित किये (भाषा) ग्रन्थों को स्वाध्याय तथा पूजनादि के कार्यों में बरतेंगे, ग्रन्थों के पूजक तथा जिनबिम्बों के निन्दक भी होंगे और जिनात्तपुरुषों (भट्टारक गुरुओं) तथा साधर्मी पुरुषों की निन्दा करेंगे, इत्यादि कहकर और निन्दा के फलवर्णन की अप्रासंगिक बात उठाकर उसके बहाने उन्हें फिर प्रकारान्तर से खूब कोसा गया है। कहा गया है कि ऐसे निन्दक लोग अगले जन्म में अन्धे, बहरे, गूंगे, कुबड़े, सदा रोगी, विकलांगी, दारिद्री, नपुंसक, कुरूपी, असुरीले, दुःखभोगी, पुत्रपौत्रादिरहित, सदा शोकी, भाग्यहीन, दुर्बुद्धि, क्रूर, दुष्ट, खल, ज्ञानशून्य, मुन्यादि-वर्जित (साधु आदि के सत्संग रहित अथवा निगुरे), धर्ममार्गपरान्मुख, गुणमानविहीन और दूसरों के घर पर नौकर होते हैं (होंगे) प्रतिपच्चन्द्रमा की तरह (शीघ्र) मर जाते हैं, ८वें, १२वें, १६वें वर्ष तथा जवानी में ही मरण को प्राप्त हो जाते हैं और इस लोक तथा परलोक में धूर्त^{२३} बन जाते हैं। साथ ही यह भी कहा गया है कि प्राणियों के शरीर में जो भी कष्टदायक दुःख होते हैं वे सब परनिन्दा के फल हैं^{२४} और जो लोग प्रत्यक्ष में (सामने ही) निन्दा करते हैं, उन्हें चाण्डाल के समान समझना चाहिए।^{२५}

इसके बाद यह दुहाई देते हुए कि ग्रन्थों में भद्रबाहु, माघनन्दी, जिनसेन, गुणभद्र, कुन्दकुन्द, वसुनन्दी और सकलकीर्ति आदि योगीन्द्रों के द्वारा पूजा स्नानादि की वे ही सब क्रियाएं रखी गई हैं जो वीतराग भगवान् तथा गणधरादिक ने कही हैं, यहाँ तक कह डाला है कि उन क्रियाओं का उत्थापन करने वाले कपटी मनुष्य दुःखों से भरे हुए सातों नरकों में क्यों नहीं जायेंगे? भगवान् के वचन को लोपने से मूढ़ मानी पुरुष निश्चय ही नाना दुःखों की खान निगोदों में पड़ेंगे।^{२६}

अन्त में बहुत कुछ संतप्त होकर भगवान् उन तेरहपंथियों आदि को संबोधन करते हुए उनसे इस प्रकार पूछने और कहने लगे हैं—

“बतलाओ तो सही, किस ग्रन्थ के आधार पर तुमने गृहस्थों की इन छह क्रियाओं (पंचामृत अभिषेक, भगवत् चरणों पर गंधलेपन को लिये हुए सचित्तादि द्रव्यों से पूजा, स्तुति, जप, ध्यान, गुरुमुख से शास्त्रश्रवण) का लोप किया है? यदि तुम्हारे जिनागम की श्रद्धा है, तो प्रतिदिन छह

२३. मूल में ‘धवाः’ पद है और वह यहाँ धूर्तों का वाचक है। हेमचन्द्रादि के कोशों में भी ‘धवः धूर्ते नरे पत्यौ’ आदि वाक्यों के द्वारा ‘धव’ शब्द को धूर्तवाचक बतलाया है। परन्तु अनुवादक संपादक ब्र० ज्ञानचन्द्र जी महाराज ने अपनी नूतनाविष्कारिणी शक्ति के द्वारा बड़ी निरंकुशता के साथ उसका अर्थ विधुर तथा विधवा कर दिया है और लिख दिया है कि “इस लोक तथा परलोक में विधुर अथवा विधवा हो जाते हैं”!!

२४. फलादेश की इस फिलासॉफी ने जैनधर्म की सारी कर्म फिलासॉफी को लपेटकर बालाएताक रख दिया है!

२५. पिछले दोनों वाक्यों के सूचक श्लोक इस प्रकार हैं—

ये ये दुःखाश्च जायेंते प्राणिनां दुःखदायकाः। ते ते ज्ञेयाः शरीरेषु परनिन्दाया भो फलम्॥६७९॥

प्रत्यक्षं येऽत्र मूढा वै निन्दां कुर्वन्ति सर्वदा। ज्ञेयाः श्वपचसा तुल्याः स्वमतस्य क्षयंकराः॥६८१॥

२६. तत्क्रियोत्थापकाः किन्न यास्यन्ति ये च सप्तसु। श्वभ्रेषु दुःखपूर्णेषु नराः कापट्यपूरिताः॥६९४॥

प्रभोर्वाक्यप्रलोपेन ते मूढा मानसंयुताः। यास्यन्ति वै निकोतेषु नानादुःखकरेषु च॥६९८॥

क्रियाओं को करो। मूढों! हृदयोक्ति को छोड़ो और वसु राजा की तरह ग्रन्थों का लोप मत करो। अहो मूर्खों! मतिश्रुतावधिनेत्रधारक योगियों ने तो इन अभिषेकादि सम्पूर्ण क्रियाओं में कोई दोष देखा नहीं, तुम्हारे तो मूढों! मतिज्ञानादि सद्गुण अल्पमात्रा में भी दिखाई नहीं देते, फिर बतलाओ तुम बुद्धिविहीनों ने किस ज्ञान से अभिषेकादि क्रियाओं में प्रदोष देखा है? प्रभु के चरणों पर चन्दनादि से लेप करने में क्या दोष है? दीपक का उद्योत करने में, जिनांकस्थित यक्षों का पूजन करने में, धूप जलाने में, रात्रि को पूजन करने में, जिनात्तपुरुषों (भट्टारकों) के मार्गवर्धक वात्सल्य में, पुष्पसमूह से जिनचरण की पूजा करने में और केला, आम तथा अंगूरादि फलों से पूजा करने में क्या दोष है? इत्यादि सम्पूर्ण क्रियाएं जिननाथ ने आगम में कही हैं, तुमने अपनी मूढ़बुद्धि से उन्हें छोड़ दिया है। अतः तुम जिनेन्द्र की आज्ञा भंग करनेवाले और कुमार्गगामी हो, श्राद्ध (श्रद्धावान् श्रावक) नहीं हो, जिनाज्ञा के लोप से निष्फल हो गये हो। जहाँ आज्ञा (आज्ञापालन) नहीं वहाँ धर्म का लेश भी नहीं, अतः तुम निःसंदेह कुश्रद्धा के पालक हो। अरे! जिनवचन में यदि तुम्हारी दृढ़ श्रद्धा हो तो अभिषेकादि सत्क्रियाओं को अङ्गीकार करो। मूढों! बतलाओ तो सही, किसकी आज्ञा से तुमने अभिषेकादि मुख्य क्रियाएं छोड़ी हैं? ग्रन्थ खोलकर दिखलाओ। दुष्टों! बोलो, ग्रन्थों के अनुसार तुमने ये क्रियाएँ छोड़ी हैं या अपनी मति के अनुसार? जिनमुखोत्पन्न ग्रन्थों की आज्ञा तो तीनों लोक में सभी देवेन्द्र, नरेन्द्र, नागेन्द्र और खचरेन्द्र मानते हैं, जिनेन्द्र की आज्ञा के बिना सुरेन्द्र कहीं भी कोई काम नहीं करते, फिर बतलाओ अरे मर्त्यो! तुमने परम्परा से चली आई इन अभिषेकादि क्रियाओं को कैसे उत्थापित किया है? जिनाज्ञा लोपने की सामर्थ्य तो देवेन्द्रों की भी नहीं होती, मूढों! तुमने कैसे उसका लोप कर दिया? क्या तुम उनसे भी बड़े हो और इसलिये तुमने सर्वेन्द्रपूज्य प्रभु के वाक्य का उत्थापन कर दिया है? अरे मूर्खों! बोलो, क्या ये सब क्रियाएं असत्य हैं? यदि असत्य हैं तो फिर सारे ग्रन्थ झूठे ठहरेंगे। तुम्हारे यदि जिनागम की श्रद्धा है तो फिर आगम वाक्य के अनुसार क्यों नहीं चलते? पक्षपात को छोड़ो और ग्रन्थपक्ष के अनुसार चलो।”

जिन वाक्यों का सार दिया गया है वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

भवद्भिः केन ग्रन्थेन वक्तव्यं खलु लोपिताः।
 षट् क्रियाः जिननाथेन इमाः प्रोक्ताश्च गेहिनाम्॥६०॥
 स्यात् यदि दृढश्रद्धा वै भवतामागमस्य च।
 कुरुध्वं जिननाथस्य षट् क्रियां वासरं प्रति॥६१॥
 त्यजध्वं हृदयोक्तिं च वसुभूपालवत् खलु।
 ग्रन्थानां लोपनं मूढा मा कुरुध्वं मतापहम्॥६२॥
 मतिश्रुतावधिनेत्रधारकाणां च योगिनाम्।
 गृहस्थधर्मव्याख्यानं कुर्वतां च विमानिनाम्॥६३॥

तेषां नैव ह्यहो मूर्खा दोषो दृष्टो किमप्यहो ।
 अभिषेकादिसर्वासु क्रियासु विदितेषु वै ॥६४॥
 भवतां नैव भो मूढा मतिज्ञानादिसद्गुणाः ।
 चाल्यमात्रापि दृश्यन्ते सर्वद्वेषरनाशकाः ॥६५॥
 वक्तव्यं केन ज्ञानेन भवद्भिः मतिवर्जितैः ।
 किं दृष्टश्च प्रदोषो वै अभिषेकादिषु खलु ॥६६॥
 दोषः किं स्यात्प्रभोः पादलेपने चन्दनादिभिः ।
 दीपस्योद्योतने किं च जिनांकयक्षपूजने ॥६७॥
 धूपोत्करस्य दहने निशायाः पूजने तथा ।
 जिनात्तपुरुषाणां च वात्सल्ये मार्गवर्द्धके ॥६८॥
 पुष्पोत्करैः जिनेन्द्रस्य पादाम्बुजपूजने खलु ।
 केलाग्रगोस्तनी चान्यत्फलोत्करैः प्रपूजने ॥६९॥
 इत्याद्या याः क्रियाः सर्वा जिननाथेन वर्णिताः ।
 आगमे तत् भवद्भिश्च त्यक्ता भो मूढबुद्धितः ॥७०॥
 अतः यूयं जिनेन्द्रस्य आज्ञाघ्नाश्च कुमार्गगाः ।
 न श्रद्धा निःफला जाता जिनाज्ञालोपतः खलु ॥७१॥
 यत्राज्ञा न च तत्रापि धर्मलेशोऽपि नास्ति वै ।
 अतो यूयं कुश्रद्धायाः पालकाश्च न संशयः ॥७२॥
 यदि स्यात् दृढश्रद्धा वै भवतां तद्वचनस्य च ।
 तदा ह्यङ्गीकुरुध्वं भो स्नपनादिसत्क्रियाम् ॥७३॥
 आख्यापयथ मूढाः कस्याज्ञया स्नपनादिकाः ।
 यूयं त्यक्ताः क्रिया मुख्या ग्रन्थपक्षं प्रदर्शयथ ॥७४॥
 ग्रन्थानुसारतः त्यक्ताः वदध्वं च क्रियाः खलाः ।
 इमे यूयं तथा किं च स्वमतेः सारतः खलु ॥७५॥
 जिनाननसमुत्पन्नग्रन्थाज्ञां भुवने त्रये ॥
 देवेन्द्रा वा नरेन्द्राश्च नागेन्द्राः खचरेश्वराः ॥७६॥
 सर्वे ते मानयन्त्येव निःशंकां निखिलार्थदाम् ।
 मतिश्रुतावधिश्लिष्टशुद्धदृग्धारकाः खलु ॥७७॥
 क्वचिदपि जिनेन्द्रस्य चाज्ञा ऋते सुरेश्वराः ।
 न कुर्वन्त्यपरं कार्यं नानाभवप्रदायकम् ॥७८॥

यूयं वदथ भो मर्त्याः पारंपर्यात्समागताः ।
 भवद्विरभिषेकाद्याः कथमुत्थापितः खलु॥७९॥
 सुरेन्द्राणामपि नैव सामर्थ्यं स्यात्कदाचन ।
 जिनाज्ञालोपने मूढाः भवद्विः लोपिताः कथम्॥८०॥
 यूयं तदधिकाः किं वै अतः उत्थापितं प्रभोः ।
 वाक्यं सर्वेन्द्रपूज्यं च सर्वत्रापि निरंकुशम्॥८१॥
 वदध्वं पुनः भो मूर्खा ह्यसत्याः स्युरिमाः क्रियाः ।
 सर्वे ग्रन्था असत्याः स्युः सर्वसन्देहनाशकाः॥८२॥
 युष्माकं यदि श्रद्धा स्यात् दृढा जिनागमस्य वै ।
 तदा किं न कुरुध्वं भो तत् वाक्यं शिवदायकम्॥८३॥
 पक्षपातं त्यजध्वं च ग्रन्थपक्षं जगन्नुत्तम ।
 यूयं श्रद्धानिका नित्यं कुरुध्वं धर्मसिद्धये॥८४॥

(पृष्ठ १६३ से १६७)

पाठकजन! देखा, कितनी भारी झड़प का यह उल्लेख है! इसी तरह का और भी कितना ही संघर्षात्मक कथन है, जो भट्टारकों को ग्रन्थकार के शब्दों में जिनात्तपुरुषों को गुरु न मानने से सम्बन्ध रखता है, जिसमें भट्टारकों को गुरु न मानने वालों को सप्तम नरकगामी तक बतलाया है!^{२७} और जिसे यहाँ छोड़ा जाता है। अस्तु, इतनी खैर हुई कि ग्रन्थकार ने उत्तर में तेरहपंथियों को कुछ बोलने नहीं दिया, नहीं तो समवसरण सभा का रंग कुछ दूसरा ही हो जाता! और इस तरह से निरर्गल बोलने तथा पूछने वाले भगवान् के ज्ञान-विज्ञान की सारी कलई खुल जाती!!

इस प्रकार ग्रन्थकार ने अपनी इस कृति द्वारा भगवान् महावीर जैसे परमवीतरागी और ब्रह्मज्ञानी पूज्य महान् पुरुष को एक अच्छा खासा पागल, विक्षिप्तचित्त, अविवेकी, कषायवशवर्ती और कलुषितहृदय, क्षुद्रव्यक्ति प्रतिपादित किया है। उसका यह घोर अपराध किसी तरह भी क्षमा किये जाने के योग्य नहीं है। एक स्वार्थसाधु पामर मनुष्य अपनी स्वार्थ-साधना में अंधा होकर और कषायों में डूबकर जाने-अनजाने पूज्य पुरुषों तक को कितना नीचे गिरा देता है यह इस प्रकरण से बहुत कुछ स्पष्ट है, जिसमें यहां तक चित्रित किया गया है कि भविष्य में एक खास ढंग से अभिषेक-पूजा को न होते हुए देखकर भगवान् एक दम बिगड़ बैठे हैं! ग्रन्थकार ने अपनी कुत्सित वासनाओं और कषाय भावनाओं को चरितार्थ करने के लिये भगवान् महावीर के पवित्र नाम का आश्रय लिया है, उसे अपना आला अथवा हथियार बनाया है अर्थात् बातें अपनी, कहने का ढंग अपना और नाम भगवान् महावीर

२७. येऽधमा नैव मन्यन्ते गुरुं ज्ञानस्य दायकम्।

ते यास्यन्ति न संदेहः सप्तमे श्वभ्रकूपके॥ पृ. १७७

का! उसकी इस कृति में साफ तौर पर भट्टारकानुगामियों की तेरहपंथियों के साथ युद्ध की वही मनोवृत्ति काम करती हुई दिखलाई दे रही है जिसका पहले लेख में उल्लेख किया जा चुका है। इसके सिवाय इस सारे वर्णन में और कुछ भी सार नहीं है। भगवान् महावीर जैसे परम विवेकी और परम संयमी आप्तपुरुषों का ऐसा असम्बद्ध, सदोष और कषायपरिपूर्ण वचन व्यवहार नहीं हो सकता। ऐसे वचनों अथवा ग्रन्थों को जिनवाणी कहना—जिनमुखोत्पन्न बतलाना—जिनवाणी का उपहास करना है। यदि सचमुच जिनवाणी का ऐसा ही रूप हो तो उसे कोई भी सुशिक्षित और सहृदय मानव अपनाने के लिये तैयार नहीं होगा।

इसके सिवाय, किसी भी सभ्य मनुष्य को यह बात पसंद नहीं आती कि वह अपनी पूजा प्रशंसा के लिये दूसरों को साक्षात् प्रेरणा करे, फिर मोहरहित वीतरागी आप्तपुरुषों की तो बात ही निराली है—उन्हें वीतराग होने के कारण पूजा प्रशंसा से कोई प्रयोजन ही नहीं होता, जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के “न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे” जैसे वाक्य से प्रकट है। उनके द्वारा इस तरह विस्तारपूर्वक और लड़-झगड़कर अपनी पूजा-अर्चा का विधान नहीं बन सकता। स्वामी पात्रकेसरी ने तो अपने स्तोत्र में ‘त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिताः किन्तु तास्त्वयि प्रसृतभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः’ जैसे वाक्य द्वारा स्पष्ट बतला दिया है कि केवलज्ञानी भगवान् ने इन पूजनादि क्रियाओं का उपदेश नहीं दिया, किन्तु भक्त श्रावकों ने स्वयं ही (अपनी भक्ति आदि के वश होकर) उनका अनुष्ठान किया है, उन्हें अपने व्यवहार के लिये कल्पित किया है। और यह बहुत कुछ स्वाभाविक है।^{१८} ऐसी हालत में भगवान् महावीर के मुख से जो कुछ यद्वा-तद्वा अपनी इच्छानुकूल कहलाया गया है और उसमें तेरहपंथियों आदि के प्रति जो अपशब्दों का व्यवहार किया गया है उसमें भगवान् महावीर का कोई सम्बन्ध नहीं है—उनका जरा भी उसमें हाथ नहीं है—वह सब वास्तव में ग्रन्थकार के संतप्त एवं आकुल हृदय का प्रतिबिम्ब है, उसकी अपनी चित्तवृत्ति का रूप है, और इसलिए उसकी निजी कृति है। अपनी कृति को दूसरे की प्रकट करना अथवा उसके विषय में ऐसी योजना करना जिससे वह दूसरे की समझ ली जाये, इसी का नाम जालसाजी है और इस जालसाजी से यह ग्रन्थ लबालब भरा हुआ है। इसलिए इसे जाली कहने में जरा भी अत्युक्ति नहीं है।

अपनी इस कृति पर से ग्रन्थकार पंडित नेमिचन्द्र इतना मूर्ख मालूम होता है कि उसे ग्रन्थरचना के समय इतनी भी तमीज (विवेक-परिणति) नहीं रही है कि मैं कहना तो क्या चाहता हूँ और कह क्या रहा हूँ! वह कहने तो चला भगवान् महावीर के मुख से निकला हुआ अविकल भाविक वृत्तान्त और सुना गया अपने संतप्त हृदय की बेढंगी दास्तान!! जिस परनिन्दा की उसने इतनी बुराई की और जिसका इतना भारी भयंकर परिणाम बतलाया, उसी को उसने खुद अपनाया है और उससे उसका ग्रन्थ भरा पड़ा है!!! क्या दूसरों को उपदेश देना ही पंडिताई का लक्षण है, खुद अमल करना नहीं?

२८. इस विषय के विशेष विवेचनादि के लिये लेखक की उस लेखमाला को देखना चाहिए जो कुछ वर्ष पहले ‘उपासना विषयक समाधान’ नाम से जैन जगत् में प्रकट हुई थी।

समझ में नहीं आता, आचार्य कहलाने वाले शांतिसागरजी ने ऐसे कषायवर्धक और सम्प्रदायिक विद्वेषमूलक जाली ग्रन्थ को कैसे पसंद किया, क्यों कर अपनाया और किस तरह वे उसकी प्रशंसा करने बैठ गये!! क्या उन्होंने भगवान् महावीर को ऐसा ही कलुषितहृदय, अविवेकी, असभ्य और यों ही हवा से बातें करने वाला उन्मत्त प्रलापी एवं क्षुद्र प्राणी समझा है? क्या इसी रूप में उनके ऐसे ही गुणों का चिन्तन करते हुए वे उनका ध्यान किया करते हैं!! और ऐसे ही बेढंगे ग्रन्थों को वे जिनवाणी समझते हैं? अथवा यह समझ लिया जाये कि वे खुद भी ग्रन्थकार के रंग में रंगे हुए हैं? बड़ी ही कृपा हो यदि आचार्य महाराज स्वयं ही इस विषय का खुलासा प्रकट करने का कष्ट उठाएँ। और यदि वस्तुतः किसी के प्रभाव में पड़कर या वस्तुस्थिति को ठीक न समझने के कारण उनसे भूल हो गई है तो उसका खुले दिल से प्रायश्चित्त कर डालें, और अपने संघ में ऐसे दूषित ग्रन्थों के प्रचार को रोक दें। इसी में उनके पद की शोभा है।

५. ढूँढियों पर गालियों की वर्षा

दिगम्बर तेरहपंथियों से उस भारी झड़प के बाद जिसका ऊपर नं० ४ में उल्लेख किया जा चुका है, भगवान् महावीर, अपनी उसी भाविक वृत्तान्तवर्णना के सिलसिले में, राजा श्रेणिक को ढूँढियों (स्थानकवासी जैनों) का कुछ वर्णन सुनाने बैठे हैं, जिसे ग्रन्थ 'ढूँढकमतोत्पत्ति' नाम दिया गया है। परन्तु ढूँढक मत की उत्पत्ति का इस प्रकरण में प्रायः कुछ भी इतिहास नहीं है, सिर्फ इतना कहा गया है कि श्वेताम्बर मत में लुंका (लौंका शाह) संवत् १५२७ में उत्पन्न हुआ। उसके मत में बहुत से भेद हुए, कोई जिनपूजा के निन्दक हैं, कोई जिनबिम्बों के दर्शन-पूजन से पराङ्मुख हैं, कोई तीर्थयात्राओं की निन्दा करते हैं, कोई जैन मन्दिरों तथा प्रतिष्ठाओं के निषेधक हैं, और ये सब जिनमार्ग के नाशक हुए हैं (बभूवुः)। बाकी सारा प्रकरण दिगम्बर तेरहपंथियों की तरह ढूँढियों के साथ भगवान् के लड़ने झगड़ने, उनकी पूजनादि-सम्बन्धी कुछ मान्यताओं का खण्डन करने और उन पर अविश्रान्त गालियों की वर्षा से भरा हुआ है। मालूम होता है 'अथापरं शृणुध्वं भो'²⁹ इन शब्दों के साथ प्रकरण का प्रारम्भ करते ही भगवान् एक दम विचलित हो उठे हैं, उन्होंने भविष्यवर्णना की अपनी बात (प्रतिज्ञा) को भुला दिया है और वे ढूँढियों की उत्पत्ति का वर्णन एक अतीत घटना के रूप में करने चले हैं! उन्होंने उसके लिये प्रायः आसीत्, अभूत्, जाताः, बभूवुः जैसी भूतकालीन क्रियाओं का प्रयोग किया है³⁰ और उनके द्वारा यह सूचित किया है कि ढूँढकमत (स्थानकवासी सम्प्रदाय) की उत्पत्ति उनसे पहले

२९. यह पूरा श्लोक इस प्रकार है—

अथापरं शृणुध्वं भो स्वेतवासोमते खलु।

लुङ्गाभिधः कुधीरासीत्सर्वधर्मविनाशकः॥१४६॥

३०. अनुवादक को भी यह बात कुछ खटकी है और इसलिये उसने कहीं कहीं हिन्दी पाठकों को धोखे में डालते हुए, भूतकाल की क्रिया का अर्थ भविष्यकाल की क्रिया में दे दिया है।—देखो, पृष्ठ १८०।

ही हो चुकी थी, इतना ही नहीं बल्कि निम्न वाक्य द्वारा वे यहां तक भी स्पष्ट कह गये हैं कि इस वक्त ढूँढिया लोग सब जगह खूब फैले हुए हैं!!^{३१}

नाम्ना ढूँढ्याश्च विख्याता क्रियाकर्मविवर्जिताः ।

सर्वत्र विस्तृता ते च ह्यधुना भो बुधोत्तमाः॥१५२॥

इसके सिवाय, भगवान् ने, भो लुंकमतधारकाः भो लुंकाः, भो ढूँढ्याः इत्यादि संबोधन पदों के द्वारा ढूँढियों को साक्षात् संबोधन करके कितनी ही बातें गद्य-पद्य में कही हैं उन्हें पूजन-विधान तथा जिनबिंबदर्शनादि के लिये, क्रोध भरे अपशब्दों के साथ, उनके पैतालीसा,^{३२} जीवाभिगम, ज्ञाताकथा, उपासकदशा, सूत्रकृतागम और भगवतीसूत्रादि ग्रन्थों को देखने, उनके अनुसार चलने अथवा उनका लोप कर देने को भी कहा है। कुछ बातों का ढूँढियों ने उत्तर भी दिया है, जिसका उल्लेख ग्रन्थ में निम्न प्रकार के वाक्यों के साथ किया गया है—

ढूँढ्या इत्युत्तरं श्रुत्वापि स्वपक्ष-पालनार्थमित्यूचुः ।

इति श्रुत्वापि पुनः लुंकमतधारका ढूँढ्या इत्याहुः॥

इससे जान पड़ता है कि बहुत से ढूँढिये भगवान् के समवसरण में पहुँच गये थे! उन्हें अपनी सभा में साक्षात् सामने बैठे देखकर भगवान् श्रेणिक को कथा सुनानी भी भूलकर इतने आवेश में भर गये और इतने उत्तेजित हो उठे कि वे अपने को संभाल नहीं सके और इसलिये उन्होंने, जो कुछ कहनी-अनकहनी थी, वह सब कह डाली! उन्होंने सब ढूँढियों को मूर्ख, मूढ़, मूढ़मानस, मूढ़चित्त, महामूढ़, सुबोधलववर्जित, मतिवर्जित, निर्विचार, मतिहीन, ज्ञातिहीन, क्रियाहीन, सर्वहीन, क्रियाकर्मविवर्जित, जिननिन्दक, जिनाज्ञाविमुख, धर्मलोपक, जिनमार्गनाशक, जिनधर्मनाशक, जैनघातक, जिनघ्न, जिनागमघ्न, जिनवाक्यघ्न, जिनमंत्रराजघ्न, सर्वघ्न, मदोद्धत, मदोन्मत्त, खल, खलात्मा, खलाशय, क्रूर, अशुद्ध, असाधु, कुकुलान्वित, ज्ञानलेशोज्झित, भक्ष्याभक्ष्यविवेकरहित, भ्रष्टाचारी, अधम आदि कहकर ही संतोष धारण नहीं किया, बल्कि उन्हें बगुलों से भी गये-बीते, श्वपचवत्, निशाचरसम, जनंगमोपम (चाण्डालतुल्य), चाण्डालों से भी हीन, म्लेच्छाचार-प्रपालक, म्लेच्छ, जीवभक्षक, पशुतुल्य, दुर्गतिगामी और निगोदगामी तक कह डाला है!! इस प्रकरण के पिछले कुछ थोड़े से वाक्य नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं—

३१. अनुवादक ब्रह्मचारी ज्ञानचन्द्र (क्षुल्लक ज्ञानसागर) जी ने श्लोक के उत्तरार्द्ध का, जिसमें यह बात कही गई है, अर्थ ही नहीं दिया और न यही सूचित किया कि इस वाक्य का अर्थ उनसे नहीं बन सका, जो अतिसुगम है! यह है आपके निष्कपट व्यवहार का एक नमूना!! आपकी लीलाओं के विशेष परिचय के लिये तो 'अनुवादक की निरंकुशता' वाले प्रकरण को देखिये।

३२. 'पैतालीसाभिधे ग्रन्थे' इन शब्दों में 'पैतालीस' या पैतालीसा' नाम के जिस ग्रन्थ का उल्लेख किया गया है उस नाम का कोई एक ग्रन्थ ढूँढियों के यहां देखने अथवा सुनने में नहीं आता। संभव है कि यह श्वेताम्बरों के ४५ आगम ग्रन्थों की तरफ ही मूर्खतापूर्ण इशारा हो, जिनमें से ढूँढिया भाई बहुत से ग्रन्थों को प्रमाण नहीं मानते।

हंसा हंसाः हि भो मूर्खाः बका बकाश्च सुन्दराः ।
 यूयं च बकतुल्यापि नो सन्ति ध्यानमानसाः ॥८३॥
 क्रियालेशोऽपि नास्त्येव भवतां च खलात्मनाम् ।
 यत्र नास्ति क्रियाशुद्धिः धर्मोऽपि तत्र नास्ति वै ॥८४॥
 प्रत्यक्षं भवतां मूढाः म्लेच्छाचारो हि दृश्यते ।
 अतः स्युः तत्समाः यूयं भ्रष्टाचारस्य पालनात् ॥८५॥
 जिह्वास्वादेन युष्माभिः सर्वाचारः सुशोभनः ।
 त्यक्ता (क्तो)ऽतः सर्वधर्मोपि मुनिगृहस्थगोचरः ॥८६॥
 प्रासुकं प्रासुकं कृत्वा सर्ववस्तुकदम्बकम् ।
 भवद्विश्च क्रियाहीनैः सर्वं ह्यङ्गीकृतं ननु ॥८७॥
 भक्ष्याभक्ष्यविवेकोपि युष्माकं नास्ति किञ्चनः ।
 दृश्यते श्वपचो यद्वत् तद्वत् यूयं न संशयः ॥८८॥
 ज्ञातिहीनाः क्रियाहीनाः जिनबिम्बस्य निन्दकाः ।
 यूयं च सर्वहीनाः स्युर्यथा म्लेच्छाः तथा खलु ॥८९॥
 खाद्याखाद्यस्य भेदो न म्लेच्छानां च खलात्मनाम् ।
 यथा स्यात् किञ्चनो लुंका युष्माकमपि सो नहि ॥९०॥
 स्वस्वधर्मे रताः सर्वे स्वस्वदेवस्य पूजकाः ।
 यूयं हि जिनधर्मस्य नाशकाः स्युः न संशयः ॥९१॥
 × × × ×
 तनोः हि नवद्वाराः स्युः भो लुंका तान् कथं खलाः ।
 बन्धयथ सुचेलेन जीवानां रक्षणाय नो ॥९४॥
 बन्धयथ नवद्वारान् लुंकाः त्यजथ भो खलाः ।
 वक्त्रस्य बन्धनं नूनं यूयं सत्या यदि खलु ॥९५॥
 वासोयोगात्समीरस्य कीलालस्य च निश्चयात् ।
 जीवोत्कराश्च आस्ये वै उत्पद्यन्ते खलाशयाः ॥९६॥
 तत्रैव ते च म्रियन्ते सदाकाले च संशयः ।
 नो यूयं पश्यथ लुंकाः ग्रन्थेषु सकलेषु च ॥९७॥
 अतो यूयं च प्रत्यक्षं निशाचरसमाः खलाः ।
 जीवानां भक्षणात् स्युः हि ते हि जीवस्य भक्षकाः ॥९८॥
 रक्षथ नैव रात्रौ च प्रासुकं चोदकं खलु ।
 यदि स्यान्मलमूत्रादेरुत्पत्तिः मां खलाः स्फुटं ॥९९॥

वदथ कुरुथ किं च तत्र तत्शुद्ध्ये तदा।
 किं न कुरुथ भो लुंका यदि श्वपचसोपमाः॥१००॥
 कथं जपथ नोकारं सामायिकं पठथ च।
 अशुद्धे सर्वं व्यर्थं स्यात् शुचिः सर्वत्र सम्मता॥१०१॥
 ईदृश्यं निन्दकर्म च नो कुर्वन्ति खलाः स्फुटं।
 मातंगापि क्रियाहीना व्रतकर्मविवर्जिताः॥१०२॥
 जनंगमोपमा यूयं किं स्युः भो जिननिन्दकाः।
 नो संति तत्समाप्येव तद्धीना नात्रसंशयः॥१०३॥
 भो म्लेच्छाः ईदृशं किं स्यात् साधुजनस्य लक्षणं।
 वयं हि साधवो लोके इत्यसत्यं वदथ मा॥१०४॥
 अतो भो कुक्रियां त्यक्त्वा क्रियां शुद्धां सुखास्पदां।
 पालयत प्रयत्नेन जिनवक्त्रसमुद्भवाम्॥१०५॥
 यायाश्च कुगतिं मूढा यूयमाचारवर्जनात्।
 मा भजथाविवेकं च धर्ममार्गस्य नाशकाः॥१०६॥
 जिनबिम्बं जिनागारं जिनसिद्धान्तपुस्तकं।
 जिनमतस्थं दयाभावं जिनयात्रां जिनोत्सवम्॥१०७॥
 जिनधर्मं प्रभोर्वाचं धर्माब्धिसोमसदृशं।
 इत्याद्यान् ये च लोकाश्च निन्दयन्त्येव ते मताः॥१०८॥
 म्लेच्छाश्च जिनधर्मस्य नाशकाश्च जिनागमे॥
 इति ज्ञात्वा न कर्तव्या निन्दा बिम्बस्य भो खलाः॥१०९॥
 इत्युपदेशमस्माभिर्दत्तो भवतां खलु।
 अहंकारमदानैव तद्धि भद्रार्थमेव च॥११०॥
 निकोतेः यदि वांछा चेत् युष्माकं स्यात्खलाः स्फुटं।
 तदा कुरुथ बिम्बस्य निन्दां धर्मस्य नाशिनीम्॥१११॥

-पृ० २०२ से २०६

इन वाक्यों में भगवान् ढूँढियों से कहते हैं “अरे मूर्खों! हंस हंस ही होते हैं और सुन्दर बगुले, बगुले ही, परन्तु तुम तो बगुलों के बराबर भी ध्यानी नहीं हो। तुम दुष्टात्माओं के तो क्रिया का लेश भी नहीं है, और जहां क्रियाशुद्धि नहीं वहां धर्म भी नहीं होता। मूढ़ों! तुम्हारे तो प्रत्यक्ष म्लेच्छाचार दिखलाई पड़ता है, अतः तुम भ्रष्टाचार के पालने से म्लेच्छों के समान हो। जिह्वास्वाद के वशवर्ती होकर तुमने सारा शोभनाचार त्याग दिया है और इसलिये मुनिगृहस्थ सम्बन्धी सारे धर्म से ही तुम हाथ

धो बैठे हो। तुम क्रियाहीनों ने प्रासुक प्रासुक करके सारी वस्तुओं को ही अंगीकार कर लिया है। तुम्हारे भक्ष्याभक्ष्य का कुछ भी विवेक नहीं है। जिस तरह चाण्डाल दिखाई देता है उसी तरह तुम भी दिखाई पड़ते हो, इसमें सन्देह नहीं। तुम जिनबिम्ब की निन्दा करने वाले जातिहीन हो, क्रियाहीन हो और सब में हीन (नीच) हो, जैसे म्लेच्छ होते हैं वैसे ही निश्चय से तुम हो। म्लेच्छों के और दुष्टात्माओं के जैसे खाद्य-अखाद्य का कुछ भेद विचार नहीं होता, वैसे ही लुंकाओ! तुम्हारे भी खाद्य अखाद्य का विचार नहीं है। सब लोग अपने अपने धर्म में लीन और अपने अपने देव के पूजक हैं परन्तु तुम तो निःसंदेह जिनधर्म के नाशक ही हो। ×××× हे लुंकाओ! शरीर के नव द्वार होते हैं, तुम अधमजन जीवों की रक्षा के लिये उन सबको कपड़े से क्यों नहीं बाँधते? हे लुंकाओ! खल पुरुषो! यदि तुम सच्चे हो तो या तो नवों द्वारों को कपड़े से बांधो और नहीं तो मुख पर पट्टी बांधना भी छोड़ो। दुरात्माओं! वस्त्र, वायु और थूक के योग से जीवों के समूह मुख में उत्पन्न हो जाते हैं और सदा वहीं मरते रहते हैं, इसमें संशय नहीं है। तुम सब ग्रन्थों में इस बात को देख सकते हो। अतः दुष्टो! जीवों के भक्षण से साक्षात् निशाचरों (राक्षसों) के समान हो। निशाचर भी जीव भक्षक होते हैं। तुम रात को प्रासुक जल नहीं रखते। यदि उस समय मलमूत्रादि की उत्पत्ति हो तो दुर्जनो! मुझे बतलाओ उसकी शुद्धि के लिये तब क्या करते हो? यदि कुछ नहीं करते हो तो चाण्डाल के समान हुए कैसे णमोकार मंत्र का जप करते और सामायिक पाठ पढ़ते हो? अशुद्ध अवस्था में तो सब कुछ करना व्यर्थ है, सब जगह पवित्रता को माना गया है।^{३३} पापियों! ऐसा निन्द्यकर्म^{३४} तो व्रतकर्मविवर्जित और क्रियाहीन मातंग (चाण्डाल) भी नहीं करते हैं। अरे जिननिन्दको! तुम चाण्डालों के बराबर भी कैसे हो सकते हो, तुम तो उनके बराबर भी नहीं हो, किन्तु निःसंदेह उनसे हीन हो। अरे म्लेच्छो! यह क्या साधुजन का लक्षण है? हम साधु हैं ऐसा झूठ मत बोलो। अरे! कुक्रिया को छोड़कर जिनभाषित शुद्ध सुखकारी क्रिया का यत्न से पालन करो। मूढ़ों! तुमने आचार त्याग दिया है इससे दुर्गति को जाओ, धर्ममार्ग के नाशकों! अविवेक को मत धारण करो। जो लोग जिनबिम्ब, जिनमंदिर, जिनसिद्धान्तपुस्तक, जिनमतस्थ, दयाभाव, जिनयात्रा, जिनोत्सव, जिनधर्म और प्रभु के वचनादि की निन्दा करते हैं, वे जिनागम में म्लेच्छ तथा जिनधर्म के नाशक माने गये हैं, ऐसा जानकर, अरे दुष्टो! बिम्ब की मूर्ति की निन्दा नहीं करनी चाहिए। हमने जो आपको यह उपदेश दिया है वह अहंकारमद से नहीं दिया किन्तु हित के लिये ही दिया है। यदि दुष्टो! तुम्हारी निगोद जाने की इच्छा है तो खूब मूर्ति की निन्दा करो, जो धर्म का नाश करने वाली है।”

३३. यहाँ शायद भगवान् को अपने शासन के और ग्रन्थकार को देवपूजा के निम्न वाक्यों का स्मरण ही नहीं रहा—

अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा। ध्यायेत्पंचनमस्कारं सर्वपापैः प्रमुच्यते॥१॥

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा। यः स्मरेत्परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः॥२॥

३४. यहाँ ‘ईदृश्यं निन्द्यकर्म’ का अर्थ अनुवादक ने “अपने मूत्र से अपनी शरीर की शुद्धि” दिया है, जो बिल्कुल मनगढन्त तथा शरारत से भरा हुआ है!!

पाठकजन! देखा कितनी भारी गालियों कि यह वर्षा है! पद-पद पर और बात-बात में ढूँढिया भाइयों के प्रति कितना निर्हेतुक अपशब्दों का व्यवहार किया गया है!! कैसा दांत पीस-पीसकर उन्हें कोसा गया है!! और उन पर कैसे नीच से नीच आक्रमण किये गये हैं!!! भगवान् महावीर का परम संयत मुख और ये शब्द! ये कषाय से पूरित और संतप्त हृदय के उद्गार!! क्या कोई महावीर का सहृदयभक्त इन्हें भगवान् महावीर के मुख से निकले हुए शब्द मान सकता है? अथवा कोई विवेकी पुरुष भाषासमिति और वचनगुप्ति की चरमसीमा को पहुँचे हुए एक सर्वज्ञ वीतराग तथा निर्मोही महात्मा की ओर से उसी के उपासकों के प्रति ऐसी सभ्य और शिष्ट वचनवर्गणा की कल्पना कर सकता है? कदापि नहीं। यह सब ग्रन्थकार की साम्प्रदायिक कट्टरता के कुपरिणाम स्वरूप उसकी निजी लीला, चालाकी, जालसाजी और धोखादेही है जो उसने अपनी तथा अपने जैसों की कृति को भगवान् महावीर जैसे परम संयमी और परम वीतरागी आप्तपुरुषों की कृति बतलाया है, और इस तरह अपनी मूर्खता, कषायवासना एवं स्वार्थ साधना के वश उन्हें सभ्यसंसार में नीचे गिराने आदि की जघन्य चेष्टा की है। उसे कषायावेश एवं झूठ की बुनातनी की धुन में इतनी भी खबर नहीं रही कि वह भगवान् महावीर के मुख से ढूँढियों की उत्पत्ति का वर्णन भूतकाल की क्रियाओं में कराने और भगवान् के समवसरण में ढूँढियों को बिठलाकर उनके साथ भगवान् का साक्षात् संवाद कराने से भगवान् महावीर और राजा श्रेणिक को कितना आधुनिक विक्रम संवत् १५२७ से भी कितने अधिक पीछे का ठहरा रहा है और इसलिये पब्लिक के सामने अपने झूठ का कितना पर्दा फाश कर रहा है! सच है “दरोगगोरा हाफ़िजा न बाशद” अर्थात् झूठे की स्मरणशक्ति ठीक काम नहीं देती। उसे अपने कथन के पूर्वापर सम्बन्ध का, उसके गुणदोष एवं परिणाम का यथेष्ट भान नहीं रहता और इसलिये वह यद्वा-तद्वा जो जी में आता है कह डालता है। ठीक यही हालत ग्रन्थकार पं० नेमिचन्द्र की हुई जान पड़ती है। उसे इस प्रकरण में कहीं बिल्कुल अंत में जाकर भविष्यकथन की बात का कुछ स्मरण हुआ है और इसलिए उसने बिना पूर्वापर का सम्बन्ध ठीक जोड़े नीचे लिखे भविष्यकथन के दो श्लोक भी, मगधेश्वर राजा श्रेणिक को संबोधन करते हुए, भगवान् के मुंह से कहला दिये हैं—

ईदृशाः धर्ममार्गस्य नाशकाश्च खलाशयाः।

ज्ञानलेशोज्झिताः क्रूरा भविष्यन्ति न संशयः॥१२१॥

भव्यभावयुता स्वल्पसंख्याद्या मगधेश्वर!

विसंख्याढ्या नराः तस्मिन् भविष्यन्त्येव नेतराः॥१२२॥

यहां पहले श्लोक में प्रयुक्त हुआ ‘ईदृशाः’ (इस प्रकार के) पद बहुत खटकता है और वह ग्रन्थकार की नासमझी का द्योतक है, जबकि उससे ठीक पहले, ग्रन्थ में ढूँढियों के स्वरूप का परिचायक कोई दूसरा श्लोक नहीं है और उससे भी पहले ढूँढियों के सिद्धान्तों का खण्डन तथा उनके साथ भगवान् का वादविवाद चल रहा था। इस श्लोक से ठीक पहले का निम्न श्लोक और भी ज्यादा बेढंगा (असंगत) है और वह ग्रन्थकार की अच्छी खासी मूर्खता का द्योतक जान पड़ता है—

यत्प्रोक्ता वीरनाथेन श्रेणिकं प्रति भो बुधाः।

भाविकालभवा वार्ता तथैव पश्यथाशुभा॥१२०॥

इसमें कहा गया है कि 'हे बुधजनों! महावीर स्वामी ने श्रेणिक के प्रति जो भविष्यकाल सम्बन्धी बात कही है उसे तुम वैसी ही अशुभ रूप देख लो।' परन्तु एक तो ढूँढियों के सम्बन्ध में कोई बात भविष्यवर्णना के रूप में इससे पहले इस प्रकरण में कही नहीं गई, दूसरे जब भगवान् अभी कथन कर ही रहे हैं और अगले दोनों श्लोक उन्हीं के वाक्य हैं तब ग्रन्थकार का इस तरह से बीच में बोल उठना क्या अर्थ रखता है? वह उसकी मूर्खता नहीं तो और क्या है?

जान पड़ता है ग्रन्थकार ने बिना सोचे समझे कितने ही वाक्यों को इधर-उधर से उठाकर भी रखा है और इससे उसके ग्रन्थ में और भी ज्यादा असम्बद्धता, बेढंगापन तथा जालीपन आ गया है। इस प्रकरण का प्रायः गद्य भाग ढूँढिया साधुओं और किसी भट्टारक के दरम्यान हुए शास्त्रार्थ की रिपोर्ट का एक अंश जान पड़ता है, जिसका अनुभव पाठकों को नीचे के कुछ संवाद वाक्यों से ही हो जायेगा—

“ढूँढ्या इत्युत्तरं श्रुत्वापि स्वपक्षपालनार्थमित्यूचुः। भो सज्जनाः! भवद्भिः यत्कथितं तत्सत्यमपि तथापि अस्माकं वाक् श्रयतां। वयं निरारंभाः स्युः अतः अस्माभिः आरम्भदोषेण प्रतिमायाः पूजन उत्थापितं। आरंभात् सकलजपतपःसंयमज्ञानादिसद्गुणा नश्यन्ति। यत्रारंभः तत्र किमपि धर्मोत्पत्तिर्नास्त्येव। निरारंभेण शिवस्थानप्राप्तिरंजसा भवति। आरंभेण अनन्तशः जीवराशयो म्रियन्ते। तत्पाकात् श्वभ्राब्धौ अयं प्राणी दुःखौघं भुंजति वा निगोदिषु वचनागोचरं ह्यनन्तकालपर्यंतं दुःखं भुंजत्येव।

इत्येवं कल्पोक्तं श्रुत्वा लुंकमतेभघातने केशरितुल्यः जैनागममार्गवर्धनैकदिवाकरः असत्यपक्षविभंजकः भव्याब्जमार्तडोपमः श्रीवीतरागप्रतिपालकः (पादक) सिद्धान्तादिग्रन्थवाचने सामर्थ्यधारकः पूर्वाचार्यवाक्य-प्रतिपालकः तन्मतोत्थापनार्थमित्याह-भो लुंकाः! आरम्भनिराकरणं यूयं शृणुथ चित्तसमाधिना करोम्यहम्।”

“इति श्रुत्वापि पुनः लुंकमतधारका ढूँढ्या इत्याहुः भो बुधोत्तमाः! सुरेन्द्राणामारम्भे पापोत्पत्तिर्नास्त्येव। पापारम्भोत्पत्तिः पुरुषकार्येषु भवेत् नात्र संशयः।

इतिकल्पोक्तं श्रुत्वा जिनागमार्थज्ञायक आह- भो लुंका अस्योत्तरं यूयं शृणुथ। ××× पुनरारम्भ फलं शृणुथ- श्रीवर्धमानवन्दनार्थं श्रेणिकाभिधो भूपेन्द्रः सकलसेनया सह किमगमत् वा एकएवागमत् तत्कथय भो मतिविवर्जिताः।”

भगवान् महावीर की समवसरण सभा में ढूँढियों के साथ भगवान् के शास्त्रार्थ का ऐसा रूप नहीं हो सकता। इसमें ढूँढियों की ओर से कहे गये 'भो सज्जनाः' जैसे सम्बोधनपद और उनकी बात का उत्तर देने वाले वक्ता के लिए प्रयुक्त हुए 'लुंकमतेभघातने केशरितुल्यः' आदि विशेषणपद तथा आरंभफल की सिद्धि में प्रमाण रूप से प्रस्तुत किया हुआ श्रीवर्द्धमान की वन्दना को श्रेणिक के सेनासहित जाने का उल्लेख, ये सब विषय खास तौर से ध्यान देने योग्य हैं और वे विषय पर और

भी अच्छा खासा प्रकाश डालते हैं। अस्तु।

इन सब प्रमाणों से (प्रमाणों के पांच गणों से) ग्रन्थ का जालीपन भले प्रकार सिद्ध हो जाता है और किसी विशेष स्पष्टीकरण की जरूरत नहीं रहती। साथ ही ग्रन्थकार की बुद्धि, योग्यता, कपटकला, कषायवशवर्तिता, उद्धतता, धूर्तता, साम्प्रदायिक कट्टरता, कलहप्रियता, और असत्यवादिता का भी कितना ही भंडाफोड़ होकर उसका बहुत कुछ वास्तविक रूप सामने आ जाता है।

यहाँ पर मैं इतना और भी कह देना चाहता हूँ कि ग्रन्थकार अपनी ऐसी लीलाओं तथा प्रवृत्तियों के कारण जैनधर्म के संस्कारों से प्रायः शून्य मालूम होता है। उसने यदि जैनधर्म के स्याद्वादामृत अथवा विरोधमथनी अनेकान्तरसायन का सेवन किया होता तो उसकी कदापि ऐसी कलुषित मनोवृत्ति न होती और न वह अपने तेरहपंथी भाइयों की तरह ढूँढ़िया भाइयों पर भी इस तरह से जहर उगलता। उसे स्वतः यह समझ में आ जाता कि ये लोग भी हमारी तरह जैनधर्म के उपासक हैं, उसकी मूल बातों (तत्त्वों) को मानते हैं और ये भी भगवान् महावीर आदि सभी जैन तीर्थंकरों की पूजा भक्ति करते हैं। पूजा भक्ति का तरीका कितने ही अंशों में समान और कितने ही अंशों में जुदा जुदा है, और ऐसा होना देशकालादि की परिस्थितियों की दृष्टि से बहुत कुछ स्वाभाविक है। भक्तिमार्ग बड़ा ही विचित्र तथा गहन होता है, वह सदा सबके लिये न कभी एक जैसा रहा और न रहेगा। अतः पूजा भक्ति उपासना की जाहिरी, फ़रूआती एवं ऊपरी बातों में एक दूसरे के तरीकों को पूर्णतया न अपनाते और न पसन्द करते हुए भी एक को दूसरे से घृणा करने, द्वेष रखने अथवा शत्रुता धारण करने की जरूरत नहीं है। सबको मिलकर प्रेमपूर्वक एक पिता की संतान के रूप में रहना तथा एक दूसरे के उत्थान का यत्न करना चाहिए और प्रेमपूर्वक ही एक दूसरे की भूल, त्रुटि, गलती, अन्यथा प्रवृत्ति अथवा गलत तरीके को सुधारना चाहिए न कि ऐसे विषैले साहित्य द्वारा घृणा तथा द्वेषादि के भाव को फैलाकर के जिसका असर उल्टा होता है।

निःसंदेह यह सब ऐसे दूषित साहित्य का ही परिणाम है जिसने परस्पर में कलह का बीज बोकर जैनधर्म के पतन का मार्ग साफ कर दिया है और जैनियों की शक्ति को छिन्न-भिन्न करके उन्हें किसी भी काम का नहीं छोड़ा। प्रत्युत उनके सारे पूर्व गौरव को मिट्टी में मिलाकर उन्हें जनता की आंखों में हक़ीर (तुच्छ) बना दिया है! जो लोग जानबूझकर ऐसे साहित्य की सृष्टि करते, उसे अपनाते, उसकी प्रशंसा करते और उसका प्रचार करते हैं उनका हृदय जरूर काला है, भले ही वे ऊपर से कितने ही साफ सुथरे तथा शान्त दिखलाई पड़ते हों, और इसीलिये उन्हें जैनधर्म तथा जैन समाज का हितशत्रु समझना चाहिए।

कुछ विलक्षण और विरुद्ध बातें

यह 'सूर्यप्रकाश' ग्रन्थ, जिसका जालीपन और बेढंगापन ऊपर अनेक प्रमाणों के आधार पर भले प्रकार दिनकर प्रकाश की तरह स्पष्ट सिद्ध किया जा चुका है, और भी बहुत-सी ऐसी विलक्षण तथा विरुद्ध बातों से भरा हुआ है जिनका भगवान् महावीर के सत्य शासन अथवा उनके उपदेशों के

साथ प्रायः कोई मेल नहीं है प्रत्युत इसके, जो उसकी प्रकृति के विरुद्ध तथा गौरव को घटाने वाली है और साथ ही ग्रन्थ को और भी ज्यादा अप्रामाणिक, अमान्य, अश्रद्धेय एवं त्याज्य ठहराने के लिये पर्याप्त है। नीचे ऐसी ही कुछ बातों का नमूने के तौर पर दिग्दर्शन कराया जाता है। इससे पाठकों पर ग्रन्थ की असलियत और भी अच्छी तरह से खुल जायेगी और उन्हें ग्रन्थकार के हृदय, श्रद्धान, तत्त्वज्ञान एवं कपटाचरण का और भी कितना ही पता चल जायेगा—

१. सब पापों से छूटने का सस्ता उपाय!

ढूँढियों पर गालियों की वर्षा के अनन्तर पूर्वोल्लेखित श्लोक नं० १२२ के बाद ही ग्रन्थ में एक व्रतप्रकरण दिया गया है, जिसका प्रारम्भ “पुनराह शृणु भूप! तेषां भाविसुखाप्तये” इन शब्दों से होता है, और उसके द्वारा भगवान् महावीर ने पंचम काल के मानवों की सुख-प्राप्ति के लिये राजा श्रेणिक को कुछ व्रत-विधान सुनाया है। इस प्रकरण में अष्टान्हिक आदि व्रतों के नाम सामान्य रूप से अथवा कुछ विशेषणों के साथ देकर और उनके विधिपूर्वक अनुष्ठान का फल दो तीन भवों में मुक्ति का होना बतलाकर ‘कर्मदहन’ नाम के एक खास व्रत का विधान किया गया है। इस व्रत की उत्कृष्ट विधि में मूलोत्तर कर्म प्रकृतियों की संख्या प्रमाण १५६ प्रोषधोपवास एकान्तर से और निरारम्भ करने होते हैं अर्थात् पहले दिन मध्याह्न के समय एक बार शुद्ध भोजन, दूसरे दिन निरारम्भ अनशन (उपवास) फिर तीसरे दिन एक बार भोजन और चौथे दिन अनशन यह क्रम रहता है, भोजन के दिन पंचामृतादि के अभिषेकपूर्वक तथा जिनचरणों में गन्धलेपनपूर्वक सचित्तादि द्रव्यों से पूजा की जाती है, प्रत्येक उपवास के दिन उस-उस कर्म प्रकृति के नामोल्लेखपूर्वक एक जाप्य १०८ संख्या प्रमाण जपा जाता है। साथ ही, विकथादि के त्यागरूप कुछ संयम का भी अनुष्ठान किया जाता है^{३५}। यह सब बतलाने के बाद ग्रन्थ में इस व्रत के फल का वर्णन करते हुए लिखा है—

कर्मदहनव्रतस्य फलं शृणु समाधिना।

श्रवणाच्च यत्सर्वाहाः प्रलयं यान्ति देहिनाम्॥१७८॥

इसमें भगवान् महावीर राजा श्रेणिक को कर्मदहन व्रत के फल को ध्यानपूर्वक सुनने की प्रेरणा करते हुए कहते हैं कि ‘इस व्रत के फलश्रवण से देहधारियों के सब पाप प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं! यहाँ ‘सर्वाहाः’ पद में प्रयुक्त हुए ‘सर्व’ शब्द की मर्यादा ‘सर्वज्ञ’ शब्द में प्रयुक्त हुए ‘सर्व’ शब्द की मर्यादा से कुछ कम नहीं है। वह जैसे त्रिकालवर्ती अशेष पदार्थों को विषय करने वाला कहा जाता है वैसे ही यह ‘सर्व’ शब्द भी भूत-भविष्यत्-वर्तमान काल सम्बन्धी सब प्रकार के सम्पूर्ण पापों को अपना विषय करने वाला समझना चाहिए। उन सब पापों का इस फलश्रवण से उपशम या क्षयोपशम

३५. अनुवादक ने एक दिन के जाप्य का नमूना “ओं ह्रीं मतिज्ञानावरणकर्मनाशाय नमः” दिया है! वह संयम विकथा, ग्रहारम्भ, स्त्रीसेवन, शृङ्गार, खट्वाशयन, शोक, वृथापर्यटन, अष्टमद, पैशून्य, परनिन्दा, परस्त्री निरीक्षण, रागोद्रेकपूर्वक हास्य, रति, अरति, कुभाव, दुर्ध्यान, भोगाभिलाष, पत्र, शाक और अशुद्ध दूध दही वृत्त के त्यागरूप कहा गया है। — (श्लोक १६८ से १७१)।

होना नहीं कहा गया बल्कि एकदम प्रलय (क्षय) हो जाना बतलाया गया है और इसलिये इस कथन का साफ फलितार्थ यह निकलता है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, असातावेदनीय, अशुभ नाम, अशुभ आयु, और अशुभ गोत्र नाम की जो भी पाप प्रकृतियाँ हैं वे सब इस व्रत के फलश्रवण मात्र से क्षय को प्राप्त हो जाती हैं! फिर तो मुक्ति की उसी जन्म में गारण्टी अथवा रजिस्टरी समझिये!

पाठकजन! देखो, कितना सस्ता और सरल यह उपाय भगवान् ने सब पापों से छूटने और मुक्ति की प्राप्ति का बतलाया है!! पापक्षय का इससे अधिक सुगम उपाय आपको अन्यत्र कहीं से भी देखने को नहीं मिला होगा। इस गुहारहस्य का ग्रन्थकार पर ही अवतार भगवान् की खास मेहरवानी का फल जान पड़ता है!!! अच्छा होता, यदि भगवान् दिगम्बर तेरहपंथियों और ढूँढियों को इस व्रत का फल पहले ही सुना देते, जिससे वे बेचारे सर्व पापों से मुक्त हो जाते और फिर भगवान् को उनके साथ लड़ने-झगड़ने तथा उन पर गालियों की वर्षा करने की जरूरत ही न रहती! शायद कोई तार्किक महाशय यहां यह कह बैठे कि चूँकि भगवान् को खास तौर से अपने अभिषेक पूजनादि के लिये उन्हें प्रेरित करना था वे इस व्रत का फल उन्हें पहले ही कैसे सुना देते! परन्तु तब तो उन्हें व्रतफल सुनने का ऐसा माहात्म्य बतलाना ही नहीं चाहिए था। इसे मालूम करके तो लोगों की प्रवृत्ति उस कर्मदहनव्रत के अनुष्ठान की भी नहीं रह सकती, जिसमें अनेक प्रकार से अपने अभिमत पंचामृताभिषेक, जिनचरणों पर गन्धलेपन और सचित्त द्रव्यों से पूजन की प्रेरणा अथवा पुष्टि की गई है। क्योंकि उसकी उत्कृष्टविधि का और इसलिये अधिक से अधिक-फल तो अगले जन्म में विदेहक्षेत्र का सम्राट् होकर जिन दीक्षा लेकर और अनेक तप तपकर मुक्ति का होना लिखा है, और इस व्रतफल के श्रवण से बिना किसी परिश्रम के ही सब पापों का नाश होकर उसी जन्म में मुक्ति हो जाती है। इससे व्रत करने की अपेक्षा उसका फल सुनना ही अच्छा रहा! फिर ऐसा कौन बुद्धिमान है जो सिद्धि के सरल से सरल एवं लघु मार्ग को छोड़कर कष्टकर और लम्बे मार्ग को अपनाए? ग्रन्थकार की इस मार्मिक शिक्षा और कर्मफल के नूतन आविष्कार पर तो लोगों को सारे धर्म-कर्म को छोड़कर एक मात्र कर्मदहनव्रत के फल को ही सुन लेना चाहिए! बस, बेड़ा पार है!! इससे सस्ता और सुगम उपाय दूसरा और कौन हो सकता है?

ग्रन्थ में एक स्थान पर उन मनुष्यों को जो सारे जन्म पाप में ही मग्न रहते हैं, इसी व्रत के कारण शिवपद की प्राप्ति होना लिखा है—

आजन्मपापमग्ना हि नराः यास्यन्ति निश्चयात्।

अस्यैव कारणात् भूप! शिवास्पदे च शाश्वते॥१२॥ -पृष्ठ २५४

परन्तु हमारे खयाल से तो उक्त श्लोक नं० १७८ की मौजूदगी में, ऐसे महापापी मनुष्यों को भी व्रत की उत्कृष्ट विधि के अनुष्ठानरूप इस द्राविडी प्राणायाम की जरूरत नहीं है। वे इस व्रत के फल को सुनकर सहज ही में सब पापों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं!

यहाँ पर मुझे प्रकट करते हुए बड़ा ही खेद होता है कि जो गुप्त रहस्य की बात किसी तरह भगवान् के मुख से अथवा ग्रन्थकार के कलम से भव्य जीवों के कल्याणार्थ निकल गई थी उसका प्रकट होना अनुवादक महाशय पं० नन्दनलाल (ब्र० ज्ञानचन्द्र) जी वर्तमान क्षुल्लक ज्ञानसागर जी को सहन नहीं हुआ और इसलिए उन्होंने उसे छिपाने की चेष्टा करते हुए उक्त श्लोक नं० १७८ का अर्थ ही नहीं दिया!! संभव है कि उन्हें इसमें भगवान् की या ग्रन्थकार की भूल मालूम पड़ी हो अथवा अपनी अभीष्ट पंचामृताभिषेकादि क्रियाओं को बाधा पहुँचाने का कुछ भय उपस्थित हुआ हो और इसी से उन्होंने उस पर पर्दा डालना उचित समझा हो!!! परन्तु कुछ भी हो, सत्य की प्रतिज्ञा को लिए हुए व्रती श्रावक होकर और एक अच्छे अनुवादक की हैसियत से उन्हें ऐसा कूटलेखन तथा कपटाचरण करना उचित नहीं था। कोई भी सहृदय धार्मिक पुरुष उनकी इस निरंकुशता और कपट-कला का अभिनन्दन नहीं कर सकता।

२. धर्म और धन की विचित्र तुलना!

कर्मदहनव्रत की विधि, और व्रत के फल को सुनकर राजा श्रेणिक ने भगवान् से पूछा कि ‘आपने तो पंचमकाल के मनुष्यों को निर्धन बतलाया है, फिर वे बिना धन के व्रत कैसे करेंगे? तब तो व्रत का वह फल उनके लिये नहीं बनता।’ उत्तर में भगवान् ने कहा ‘राजन्! यदि पूर्व पापों के उदय से घर में दरिद्र हो तो काय से प्रोषधसहित दुगुना व्रत करना चाहिए।’ यथा—

भवद्भिः कथिता मर्त्या निःस्वा हि पंचमोद्भवाः।

करिष्यन्ति कथं वृत्तं तद्भ्रूते नास्ति तत्फलम्॥३०॥

गृहे यदि दरिद्रः स्यात्पूर्वपापोदयात् नृप।

कायेन द्विगुणं कार्यं व्रतं प्रोषधसंयुतम्॥३१॥

यहाँ पर इतना और भी जान लेना चाहिए कि इस प्रश्नोत्तर से पहले, ग्रन्थ में व्रत की जो उत्कृष्ट विधि बतलाई गई है और जिसका संक्षिप्त परिचय नम्बर १ में दिया जा चुका है उसके अनुसार धन के खर्च का काम सिर्फ अभिषेकपुरस्सर पूजन के करने और पारणा के दिन एक पात्र को भोजन कराने में ही होता है, जिसका औसत अनुमान २०० रुपये के करीब बैठता है अर्थात् १५६ पारणाओं के दिन पात्रों का भोजन खर्च ४० रुपये और १५७ दिन का अभिषेक पूजन खर्च १६० रुपये। और इसलिये उक्त व्यवस्था से यह स्पष्ट है कि यदि कोई मनुष्य यह सब खर्च न उठाकर शुद्ध प्रासुक जल से ही भगवान् का अभिषेक कर लिया करे और “वचो विग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते। तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः॥” इस पुरातनविधि के अनुसार शरीर तथा वचन को परमात्मा के प्रति एकाग्र करके हाथ जोड़ने, शिरोनति करने, तथा स्तुतिपाठ पढ़नेरूप द्रव्यपूजा और ध्यानादिरूप से मन को एकाग्र करके भगवान् की भावपूजा कर लिया करे, साथ ही अपने भोजन में से एक ग्रास ही पहिले दानार्थ निकाल दिया करें तो इस प्रकार के पूजनादि के साथ १५६ प्रोषधोपवास और १५७ एकाशन करने तथा विकथादि के त्यागरूप उस सारे संयम का अनुष्ठान करने पर भी, जिसका पीछे एक फुटनोट में

उल्लेख किया गया है, वह इस व्रत के फल को नहीं पा सकेगा! फल प्राप्ति के लिये उसे ३१३ दिन का उतना ही धर्माचरण फिर से करना होगा!! अर्थात् उसके इस फिर से किये जाने वाले ३१३ दिन के धर्माचरण का मूल्य २०० रुपये के करीब है!!!

पाठकजन! देखा, धर्माचरण के साथ धन की यह कैसी विचित्र तुलना है! निर्ग्रन्थ मुनियों के पास तो धन होता ही नहीं भले ही भट्टारक लोग धन रखा करें और उनके लिये भी इस व्रत का विधान किया गया है, तब उन निर्धन महात्माओं को भी दुगुना व्रत करना पड़ेगा!! उनकी ३१३ दिन तक महाव्रत रूप परिणति भी उस फल को सिद्ध नहीं कर सकेगी!!! बड़ी ही विचित्र कल्पना है! समझ में नहीं आता, इस व्यवस्था को व्रतविधान कहा जाये या दण्डविधान अथवा एक प्रकार की दुकानदारी!! धन को इतना महत्त्व दिया जाना जैनधर्म की शिक्षा के नितान्त बाहर है।

भगवान् महावीर के शासन में तो आकिञ्चन्य धर्म अथवा अपरिग्रहत्व को खास महत्त्व प्राप्त है और सिद्धि का जो कार्य ऐसे त्यागी धर्मात्माओं से सहज ही में बन सकता है वह धनाढ्यों से लाखों रुपये दान-पूजा में खर्च करने पर भी नहीं बनता। मालूम होता है इस सब व्यवस्था के नीचे उसकी तह में पंचामृतादिक के अभिषेक, जिनप्रतिमा पर गन्धलेपन, सचित्तादि द्रव्यों से पूजन और भट्टारकों को कुछ प्राप्ति कराने की मनोवृत्ति ही काम कर रही है। इसी से ग्रन्थ में धनाढ्यों को प्रकारान्तर से कुछ डांटा भी गया है। कहा गया है कि ये लोग व्रत की उत्थापना करेंगे, ऐसे पापियों का धन पुत्र-पुत्रियों के विवाहों और मृतकादि की क्रियाओं में खर्च होगा, पाप कार्यों में तो लगेगा परन्तु धर्मकार्यों में व्यय नहीं होगा, धर्म कार्यों से ये लोग परान्मुख रहेंगे। बुधजनों को सदा चाहिए कि वे पूजा और पात्रदानादिक में, जो कि जिनेन्द्र भगवान् के कार्य हैं (!) कृपणता को धारण न करें, वह अनेक दुखों की दाता है।^{३६} पिछली बात का सूचक वाक्य इस प्रकार है—

भो बुधाः! जिनकार्येषु इज्यापात्रादिषु सदा।

कृपणत्वं भजध्वं मा ह्यनेकदुःखदायकम्॥४०॥

आगे चलकर इस मनोवृत्ति ने और भी विशेष रूप धारण किया है। ग्रन्थकार को उद्यापन की बात याद आ गई और इसलिये उसने व्रत की सारी विधि तथा फल की बात हो चुकने के बाद और यहाँ तक कहे जाने के बाद भी कि “कर्मदहनव्रतस्य विधिश्च कथितो मया। करिष्यति सुभावेन इदं यास्यति सोऽव्यये॥” (४३) उद्यापन की तान छेड़ दी है!^{३७} और उसके विषय में भगवान् से कहला

३६. एक स्थान पर इसी प्रकरण में पूजा तथा पात्र को भोजन दान न करके भोजन करने वाले गृहस्थ को निश्चय नरक के दुःखों का भोगने वाला लिख है! (पृष्ठ २२०)

३७. अनुवादक महाशय इस विषय में ग्रन्थकार से भी दो कदम आगे जान पड़ते हैं, क्योंकि उन्होंने इससे भी पहले ग्रन्थ में उद्यापन की बात छोड़ी है—अर्थात् ३१ वें श्लोक का अर्थ देते हुए ‘गृहे यदि दरिद्रः स्यात्’ का अर्थ “यदि दरिद्रता के कारण व्रत का उद्यापन करने की शक्ति न हो” ऐसा कर दिया है! जबकि वहाँ उद्यापन का कोई प्रसंग ही नहीं था!!

दिया है कि “व्रत की पूर्णता पर व्रतियों को व्रतफल की सिद्धि के लिये^{३८} हर्ष के साथ श्रीजिनेन्द्र की प्रतिष्ठा करानी चाहिए, चतुर्विध संघ को शिवप्राप्ति के लिये यथायोग्य दान देने चाहिए और नगरों तथा ग्रामों के जिन मन्दिरों में मनोहर छत्र, चंवर, घंटे तथा ध्वजादिक स्थापित करने चाहिए। राजन्! यह इस व्रत के उद्यापन की उत्कृष्ट विधि आगम में शिवसुख के देने वाली मानी गई है। यथाशक्ति व्रत का उद्यापन करना ही चाहिए। यदि दारिद्र के योग से ऐसी भी उद्यापन की शक्ति न हो तो फिर काय से दुगुना व्रत करना चाहिए, उससे उद्यापन के समान ही फल की प्राप्ति होती है”-

पूर्णं याते हि व्रतस्य प्रतिष्ठा श्रीजिनेशानां।
 करणीया सुमोदेन व्रतस्य फलसिद्ध्ये॥४४॥
 चतुर्विधाय संघाय, यथायोग्यानि मोदतः।
 सन्देयानि शिवाप्त्यर्थं दानानि व्रतिभिः खलु॥४५॥
 पुरेषु नगरेषु वै स्थापनीया मनोहराः।
 छत्राश्च चामराः घंटाः ध्वजाद्याः जिनसद्मसु॥४६॥
 उत्कृष्टोऽयं विधिर्भूप! शिवशर्मप्रदायकः।
 व्रतस्योद्यापनस्यास्य स्यात्खलु आगमे मतः॥४७॥
 यथाशक्त्या करणीयो व्रतस्योद्यापनो नृप!
 × × × ×
 एतादृश्यपि नास्त्येव शक्तिर्दारिद्र्ययोगतः॥४९॥
 अतो हि कायतो भव्याः कुरुध्वं द्विगुणमिदं।
 तत्समं हि फलाप्तिश्च भवतामपि संभवेत्॥५०॥

वस्तुतः उद्यापनादि की ये सब बातें भट्टारकीय शासन से सम्बन्ध रखती हैं। भट्टारकों को उद्यापनों से बहुत कुछ प्राप्ति हो जाती थी और उनके अधिकृत मन्दिरों में बहुत-सा सामान पहुँच जाता था, जिसके आधार पर वे खूब आनन्द के तार बजाते थे। इसलिये उन्होंने अनेक व्रतों के साथ उद्यापन की बात को जोड़ दिया है। दुगुने व्रत के भय से समर्थ लोग उद्यापन करने लगे, धनाढ्य स्त्री-पुरुषों से तो थोड़े से व्रतों का बनना भी मुश्किल होता है, फिर दुगुने व्रतों की तो बात ही दूर है, और इसलिये उनके द्वारा, अपनी मानमर्यादा की रक्षा करते हुए अच्छी बड़ी स्केल (बड़े परिमाण) में उद्यापन होने लगे और उनसे भट्टारकों तथा उनके आश्रितों का कितना ही काम सधने लगा। इस तरह उद्यापन की बात का प्रचार हुआ। अन्यथा, व्रतों के साथ अनिवार्य रूप से उद्यापन करने, और न करने

३८. यदि उद्यापन के बिना व्रत फल की सिद्धि ही नहीं होती तो ग्रन्थकार को व्रतफल का विधान उद्यापन विधान के बाद करना चाहिए था, परन्तु ऐसा नहीं किया गया और इसलिये यह कहना ठीक होगा कि ग्रन्थकार को उद्यापन की बात बाद को याद आ गई है और वह व्रत विधि के अतिरिक्त है।

पर दण्ड स्वरूप दुगुने व्रत करने की बात को भगवान् महावीर के शासन में कोई स्थान नहीं है और न प्राचीन आगमग्रन्थों में ही उसका कहीं उल्लेख पाया जाता है। अपने व्रत की समाप्ति पर उद्यापनादि रूप से कोई उत्सव करना या न करना यह सब व्रतियों की इच्छा एवं शक्ति पर निर्भर है—व्रतविधान और उसके फल के साथ उसका कोई खास सम्बन्ध नहीं है। इसी तरह अभिषेक पूजन की गरज अथवा उद्देश्यसिद्धि के लिये पंचामृतादिक अभिषेक को अपनाना और केला, अंगूर, अनार तथा लड्डू, फेनी, पकवान जैसे द्रव्यों से पूजन करना भी कोई लाजिमी बात नहीं है। पूजनादि की उद्देश्यपूर्ति दूसरे प्रकार से भी की जा सकती है और कहीं अधिक अच्छे रूप में की जा सकती है जिसकी कुछ सूचना ऊपर की जा चुकी है। अतः पूजनादिक और उद्यापन में धन न खर्च करने वालों के लिये दुगुने व्रत की इस व्यवस्था को भट्टारकीय लीला का ही एक परिणाम समझना चाहिए।

३. ध्यान और तप का करना वृथा!

व्रत प्रकरण के बाद ग्रन्थ में ‘सम्मेदाचल’ नाम का एक प्रकरण दिया है और उसमें श्री सम्मेदशिखर की यात्रा का अद्भुत माहात्म्य बतलाते हुए ध्यान और तप की बुरी तरह से अवगणना की गई है! ‘श्मशान भूमियों और पर्वतों की गुफादि में करोड़ पूर्व वर्ष पर्यन्त किये हुए ध्यान से भी अधिक फल सम्मेदशिखर के दर्शन से होता है!’ इतना ही नहीं कहा गया, बल्कि ‘पंचम काल में तप और ध्यान की सिद्धि नहीं होती अतः सम्मेदशिखर की यात्रा ही सर्वसिद्धि की करने वाली है’ यहाँ तक भी कह डाला है!! और इस तरह आजकल के लिये ध्यान और तप का करना बिल्कुल ही वृथा ठहरा दिया है!!! दो कदम आगे चलकर तो स्पष्ट शब्दों में इन दोनों का निषेध ही कर दिया है और भव्यजनों के नाम यह आज्ञा जारी कर दी है कि ‘तपों के समूह को और ध्यानों के समूह को मत करो किन्तु जीवनभर बार-बार सम्मेदशिखर का दर्शन किया करो!! उसी के एक मात्र पुण्य से दूसरे ही भव में निःसंदेह शिवपद की प्राप्ति होगी’। यथा—

कोटिपूर्वकृतं ध्यानं श्मशानाद्रिगुहादिषु।
तदधिकं भवत्येव फलं तद्दर्शनात् नृणाम्॥१३॥
नैवसिद्धिः तपस्योच्चैः (!) ध्यानस्यैव कदाचन।
तस्मिन् काले ह्यतो भूप! सा यात्रा सर्वसिद्धिदा॥१४॥
मा कुरुध्वं तपोवृन्दं भो भव्याः! ध्यानसंहतिम्।
× × × ×
समं प्रत्येकवारं च आमृत्यु तस्य दर्शनम्॥१७॥
भजध्वं तेन पुण्येन केवलेन शिवास्पदे।
यास्यथ नात्र संदेहो द्वितीये हि भवेऽव्यये॥१८॥

यह सब कथन जैनधर्म की शिक्षा से कितना बाहर है, इसे बतलाने की जरूरत नहीं। सहृदय पाठक सहज ही में इसकी निःसारता का अनुभव कर सकते हैं। खेद है कि ग्रन्थकार ने इसे भी भगवान्

के मुख से ही कहलाया है! उसे यह ध्यान नहीं रहा कि मैं इस ग्रन्थ में अन्यत्र कितनी ही बार इन दोनों के करने की प्रेरणा तथा इनके सफल अनुष्ठान का उल्लेख भी कर आया हूँ!! और न यही खयाल आया कि जिस ध्यान और तप के माहात्म्य से सम्मेदशिखर पूज्यता को प्राप्त हुआ है, उसी की मैं इस तरह अवगणना तथा निषेध कर रहा हूँ!! अथवा प्रकारान्तर से मुनिधर्म को भी उठा रहा हूँ!!! हां, इस प्रकार की शिक्षा भट्टारकों के खूब अनुकूल है, उन्हें राजसी ठाठों के साथ मौज मजा उड़ाना है, ध्यानादि के विशेष चक्कर में पड़ना नहीं है।

४. मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं!

ग्रन्थ में, सम्मेदशिखर के दर्शनमाहात्म्य का वर्णन करते हुए, एक श्लोक निम्न प्रकार से दिया है, जिसमें राजा श्रेणिक को संबोधन करते हुए कहा है कि 'इस (पाँचवें) काल में मानवों के लिये सम्मेदशिखर के (उसके दर्शन के) सिवाय शिव का-मुक्ति का-दूसरा और कोई उपाय नहीं है—

अस्मिन् काले नराणां च मतो भो मगधाधिप!

श्रीमच्छिखरसम्मेदान्नान्योपायः शिवस्य वै॥२६॥

यह कथन जैन सिद्धान्तों के बिल्कुल विरुद्ध है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रादि सभी प्राचीन जैन ग्रन्थों में, जो पंचमकाल के मनुष्यों के लिये ही लिखे गये हैं, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मुक्ति का उपाय (मार्ग) बतलाया है—सम्मेदशिखर की यात्रा अथवा उसके दर्शन को किसी भी सिद्धान्त ग्रन्थ में मुक्ति का उपाय नहीं लिखा। दूसरे, खुद इस ग्रन्थ के भी यह विरुद्ध है, क्योंकि इसी ग्रन्थ में मुक्ति के दूसरे उपाय भी बतलाये हैं। उदाहरण के तौर पर कर्मदहन आदि व्रतों को ही लीजिये, जिनसे द्वितीयादि भव में मुक्ति का प्राप्त होना लिखा है—इस यात्रा से भी द्वितीयादि भव में ही मुक्ति की प्राप्ति होना बतलाया है। फिर ग्रन्थकार का यहाँ भगवान् के मुख से यह कहलाना कि “मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं” कितनी अधिक नासमझी तथा अविवेक से सम्बन्ध रखता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। यदि शिव का-मुक्ति अथवा कल्याण का-दूसरा कोई उपाय नहीं है, सम्यग्दर्शनादिक भी नहीं तब समझ में नहीं आता कि इस ग्रन्थ के उपासक मुनिजन भी क्यों व्यर्थ के तप, जप, ध्यान, संयम और उपवासादि का कष्ट उठा रहे हैं! उन्हें तो सब कुछ छोड़-छोड़कर एक मात्र सम्मेदशिखर का दर्शन ही करते रहना चाहिए!!

५. भव्यत्व की अपूर्व कसौटी!

कोई जीव भव्य है या अभव्य, इसका पहचानना बड़ा ही मुश्किल काम है, क्योंकि कभी-कभी कोई जीव प्रकट रूप में ऊँचे दर्जे के आचार का पालन करते हुए भी अंतरंग में सम्यक्त्व की योग्यता न रखने के कारण अभव्य होता है और दूसरा महापापाचार में लिप्त रहने पर भी आत्मा में सम्यक्त्व के व्यक्त होने की योग्यता को रखने के कारण भव्य कहा जाता है। बहुत बड़े विशेष ज्ञानी ही जीवों के इस भेद को पहचान सकते हैं। परन्तु पाठकों को यह जानकर बड़ा ही कौतुक होगा कि इस ग्रन्थ

में उन सब जीवों को 'भव्य' बतला दिया गया है जो सम्मेदशिखर पर स्थित हो अथवा जिन्हें उसका दर्शन हो सके, चाहे वे भील, चाण्डाल, म्लेच्छादि मनुष्य, सिंहसर्पादि पशु, कीड़े मकोड़े आदि क्षुद्र जन्तु और वनस्पति आदि किसी भी पर्याय में क्यों न हों-और साथ ही यह भी लिख दिया है कि वहां अभव्य जीवों की उत्पत्ति ही नहीं होती और न अभव्यों को उक्त गिरिराज का दर्शन ही प्राप्त होता है! यथा-

“यत्रत्या सकला जीवाः सिंहसर्पादिका नराः।

भव्याः स्युः इतरेषां च उत्पत्तिर्नैव तत्र वै॥२८॥”

“कलौ तद्दर्शनेनैव तरिष्यन्ति घना जनाः।

भव्यराशिसमुत्पन्ना नोऽभव्याः तस्य दर्शकाः॥३३॥”

पाठकजन! देखा, भव्यत्व की यह कैसी अपूर्व कसौटी बतलाई गई है! बड़े-बड़े सिद्धान्तशास्त्रों का मंथन करने पर भी आपको ऐसे गूढ़ रहस्य का पता न चला होगा!! यह सब भट्टारकीय शासन की महिमा है, जिसके प्रताप से ऐसे गुप्त तत्त्व प्रकाश में आए हैं!!! इन यात्राओं के द्वारा भट्टारकों तथा उनके आश्रित पंडे-पुजारियों का बड़ा ही स्वार्थ सधता था-तीर्थस्थान महन्तों की गढ़ियाँ बन गये थे-इसी से लोगों को यात्रा की प्रेरणा करने के लिये उन्होंने गंगा यमुनादि हिन्दूतीर्थों के माहात्म्य की तरह कितने ही माहात्म्य बना डाले हैं। इनमें वास्तविकता बहुत कम पाई जाती है, अतिशयोक्तियाँ भरी हुई हैं। सम्मेदशिखर के माहात्म्यादि विषय में जो कुछ विस्तार के साथ इस ग्रन्थ में कहा गया है उसकी पूरी जांच और आलोचना को प्रकट करने के लिए एक अच्छा खासा ग्रन्थ लिखा जा सकता है। मालूम होता है, आचार्य शान्तिसागर जी का जो विशाल संघ सम्मेदशिखर की यात्रा को कुछ वर्ष पहले निकला था वह प्रायः इस ग्रन्थ में दी हुई बड़ी यात्रा विधि को सामने रखकर ही निकला था और उसके द्वारा संघपति सेठजी को अगले ही जन्म में मुक्ति की प्राप्ति का सर्टिफिकेट मिल गया है।^{३९} आश्चर्य नहीं जो भावी निश्चित सिद्धों (तीर्थकरों) की तरह उनकी अभी से पूजा प्रारम्भ हो जाये!! अब वे स्वच्छन्द हैं, चाहे जो करें!!!

६. सम्यग्दर्शन का विचित्र लक्षण।

इस ग्रन्थ में, तेरहपंथियों से भगवान् की झड़प के समय, सम्यग्दर्शन अथवा सम्यग्दृष्टि का जो लक्षण दिया है वह इस प्रकार है-

सम्यग्दृष्टेरिदं लक्ष्म यदुक्तं ग्रन्थकारकैः।

वाक्यं तदेव मान्यं स्यात् ग्रन्थवाक्यं न लंघयेत्॥६१५॥

अर्थात् ग्रन्थकारों ने (ग्रन्थों में) जो भी वाक्य कहा है उसे ही मान्य करना और ग्रन्थों के किसी

३९. “इत्यादि शुभविधिना सो वन्दितः सन् द्वितीये हि भवे तं पुरुषं मोक्षसुखं दातुं क्षमः। नात्र संशयः।” इस वाक्य के अनुसार।

वाक्य का उल्लंघन नहीं करना, सम्यग्दर्शन का लक्षण है। जिसकी ऐसी मान्यता अथवा श्रद्धा हो वह सम्यग्दृष्टि है।^{४०}

जिन पाठकों ने जैनधर्म के प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन किया है अथवा कम से कम तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डक श्रावकाचार और पंचाध्यायी जैसे ग्रन्थों को ही देखा है, उन्हें यह बतलाने की जरूरत नहीं कि यह लक्षण कितना विचित्र और विलक्षण है। वे सहज ही में समझ सकते हैं कि इसमें समीचीन लक्षण के अंगरूप न तो तत्त्वार्थश्रद्धान का कोई उल्लेख है, न परमार्थ आप्त-आगम-गुरु के त्रिमूढतादि-रहित और अष्टांगसहित श्रद्धान का ही कहीं दर्शन है, न स्वानुभूति का कुछ पता है, और न प्रशमसंवेगादि गुणों का ही कोई चिह्न दिखाई पड़ता है! सच पूछिये तो यह लक्षण बड़ा ही रहस्यमय है, जाली सिक्कों को चलाने की मनोवृत्ति ही इसकी तह में काम करती हुई नजर आती है और इसलिए इसे भट्टारकीय शासन के प्रचार का मूल मंत्र समझना चाहिए। इसी पर्दे की ओट में भट्टारक लोग और उनके अनुयायी जन सब कुछ करना चाहते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में अपनी इष्टसिद्धि के लिये चाहे जो कुछ मिला दिया जाये और चाहे जिन बातों को चलाने के लिये प्राचीन ऋषियों अथवा तीर्थंकरों के नाम पर नये ग्रन्थों का निर्माण कर दिया जाये, परन्तु उसमें कोई भी 'चूं चरा' अथवा आपत्ति न करे, बिना परीक्षा और बिना तत्त्व की जांच किये ही सब लोग उन बातों को आगमकथित के रूप में आँख मींचकर मान लेवें, इसी मन्तव्य की रक्षा के लिये बिना किसी विशेषण के सामान्य रूप से ग्रन्थकार, ग्रन्थ और वाक्य शब्दों का प्रयोग करके सम्यग्दर्शन अथवा सम्यग्दृष्टि के लक्षण का यह विचित्र कोट तैयार किया गया है!! अन्यथा इसमें कुछ भी सार नहीं है। ग्रन्थकारों में अच्छे-बुरे, योग्य-अयोग्य सभी प्रकार के ग्रन्थकार होते हैं। उनमें आचार्य, भट्टारक, गृहस्थ और प्रस्तुत ग्रन्थकार तथा त्रिवर्णाचारों के कर्ताओं जैसे धूर्त भी शामिल हैं और ग्रन्थों में भी अनेक कारणों के वश सच्ची झूठी सभी प्रकार की बातें लिखी जा सकती हैं और लिखी गई हैं। फिर बिना परीक्षा और सत्य की जाँच किये महज ग्रन्थ वाक्य होने से ही किसी बात को कैसे मान्य किया जा सकता है? यदि यों ही मान्य किया जाये तो फिर सम्यक् मिथ्या का विवेक ही क्या रह सकता है? और बिना उसके सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि का भेद भी कैसे बन सकता है? अतः यह सब भट्टारकीय मायाजाल और उनकी लीला का दुष्परिणाम है! और उसी ने ऐसे बहुत से झूठे तथा जाली ग्रन्थों को जन्म दिया है, जिनमें अनेक त्रिवर्णाचार, श्रावकाचार, संहिताशास्त्र और चर्चासागर जैसे ग्रन्थ भी शामिल हैं। और जिनमें से कितनों ही की परीक्षा होकर उनका स्पष्ट झूठ तथा जालीपन पब्लिक के सामने आ चुका है।

यहां पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि अनुवादक महाशय ने उक्त श्लोक का अर्थ देते हुए लिखा है कि “सम्यग्दृष्टि का यही एक लक्षण है कि जिसको जिनेन्द्र के आगम का श्रद्धान

४०. 'सम्यग्दृष्टि' शब्द सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शनवान् दोनों के अर्थ में आता है। इसी से मूल में प्रयुक्त हुए इस शब्द का अर्थ यहाँ उभयरूप से किया गया है।

है।” अर्थात् आपने ‘यदुक्तं ग्रन्थकारकैः वाक्यं तदेव मान्यं स्यात्’ का अर्थ “जिसको श्री जिनेन्द्र के आगम का श्रद्धान है” ऐसा किया है! और इस तरह प्रस्तुत ग्रन्थ की स्पष्ट बात पर कुछ पर्दा डालते हुए हिन्दी पाठकों की आंखों में धूल डालने का यत्न किया है!! मूल में ‘श्री जिनेन्द्र देव’ और उनके ‘आगम’ का नामोल्लेख तक भी नहीं है, बल्कि सामान्य रूप से बहुवचनान्त ‘ग्रन्थकारकैः’ पद के साथ ‘यदुक्तं’ पद का प्रयोग करके सभी ग्रन्थकारों के कथन का समावेश किया गया है। अतः यह सब भट्टारकीय शासन के अनुयायी और उसे प्रचार देने के उत्कट इच्छुक अनुवादक महाशय (वर्तमान क्षुल्लक ज्ञानसागर जी) की निरंकुशता है! और उनकी ऐसी निरंकुशताओं से यह सारा ग्रन्थ भरा पड़ा है!!

७. कुन्दकुन्द की अनोखी श्रद्धा का उल्लेख!

श्री कुन्दकुन्द मुनिराज की विदेहक्षेत्र यात्रा का वर्णन करते हुए, एक स्थान पर लिखा है कि विदेहक्षेत्र के चक्रवर्ती ने एक दिन मुनिजी से आहार के लिये विहार की प्रार्थना की, जिसके उत्तर में उन्होंने कहा “तुम्हें क्या मालूम नहीं कि इस क्षेत्र में मेरे आहार की योग्यता नहीं है?” इस पर चक्रवर्ती ने योग्यता न होने का कारण पूछा, तब कुन्दकुन्द ने उत्तर दिया—

मत्क्षेत्रे ह्यधुना रात्रिः त्वत्क्षेत्रे ह्यधुना दिवा।

भारतजोऽप्यहं न्यादं कथं कुर्वेऽत्र दोषदम्॥२९३॥

अर्थात् मैं भारत में उत्पन्न हुआ हूँ, तुम्हारे क्षेत्र में इस समय दिन होने पर भी मेरे क्षेत्र में इस वक्त रात्रि है, तब मैं इस समय (जबकि मेरे हिसाब से रात्रि है) यहाँ भोजन कैसे करूँ? वह दोषकारी है, रात्रि भोजन के दोष को लिये हुए है!!

पाठकजन! देखा, देशकालादि के अनुसार वर्तन करने वाले एक महामुनि के द्वारा दिया हुआ यह कैसा विचित्र उत्तर है और इसमें कुन्दकुन्द की कैसी अनोखी श्रद्धा का उल्लेख किया गया है! जबकि विदेह क्षेत्र में खूब दिन खिल रहा था, सूर्य का यथेष्ट प्रकाश हो रहा था, शुद्ध एवं निर्दोष भोजन की सब व्यवस्था मौजूद थी और दूसरे महान् मुनिजन भी आहार के लिये जा रहे थे तथा भोजन कर रहे थे, तब कुन्दकुन्द का उस समय को रात्रि बतला कर भोजन करने से इंकार करना और उस भोजन को सदोष मानना अथवा महज इस वजह से भोजन न करना कि उस समय भारत में रात्रि है, भोजन करने से रात्रि-भोजन का दोष लगेगा, कितना हास्यास्पद है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। इससे तो वहाँ रात्रि के समय, जबकि भारत में दिन था, कुन्दकुन्द का भोजन कर लेना निर्दोष ठहरता है! फिर, उसे उन्होंने क्यों नहीं अपनाया और क्यों सात दिन तक वे भूखे रहे? इसका ग्रन्थ पर से कुछ भी समाधान नहीं होता! इसके सिवाय, यदि यह मान लिया जाये कि भारत की रात्रि-दिन की चर्या के हिसाब से ही कुन्दकुन्द बंधे हुए थे तो उन्हें उस वक्त चक्रवर्ती से वार्तालाप भी नहीं करना चाहिए था और न वहाँ दिन के समय सीमंधर स्वामी तथा उनके गणधरों से ही प्रश्नादिक करने चाहिए थे, क्योंकि उस समय भारत में रात्रि थी और रात्रि को मुनिजन बोलते नहीं हैं खुद कुन्दकुन्द भी इसीलिये

उन देवों से नहीं बोले थे जो रात्रि के समय उन्हें लेने के लिये गये थे और जिसका उल्लेख ग्रन्थ में “ब्रूयुर्नैव रात्रौ च” इत्यादि वाक्य के द्वारा किया गया है। फिर कुन्दकुन्द ने अपने उस रात्रि में मौन के नियम को वहाँ जाकर क्यों भुला दिया? यह देशकालानुसार वर्तन नहीं था तो और क्या था? फिर भोजन ने ही कौन सी खता की थी? यदि वहाँ उन्हें भोजन कराना ही ग्रन्थकार को इष्ट नहीं था तो अच्छा होता यदि कुन्दकुन्द के द्वारा ऐसा कुछ उत्तर दिला दिया जाता कि “भारतीयों द्वारा दिया हुआ भारत का अन्न-जल ही मेरे लिये ग्राह्य है।” परन्तु ग्रन्थकार को इतनी समझ होती तब न! उसने तो अपनी मूर्खतावश कुन्दकुन्द जैसे महान् आचार्य को भी अच्छा खासा मूर्ख बना डाला है!!

८. आगम का अद्भुत विधान

ग्रन्थ में एक स्थान पर आगम का जो विधान दिया गया है, वह इस प्रकार है—

जिनबिम्बं नराः ये हि दृष्ट्वा कुर्वन्ति भोजनम्।

ते मता ह्यागमे मर्त्याः पशुतुल्याश्च तद्भृते॥ पृ० २०६॥

अर्थात् आगम में वे लोग ही निश्चय से मनुष्य माने गये हैं जो जिनबिम्ब का-जिनेन्द्र की मूर्ति का-दर्शन करके भोजन करते हैं। जो लोग जिनबिम्ब का दर्शन किये बिना भोजन कर लेते हैं उन्हें ‘पशुतुल्य’ समझना चाहिए।

आगम की इस व्यवस्था के अनुसार— (१) वे सब निर्ग्रन्थ जैन मुनि पशुतुल्य ठहरते हैं जिनके जिनबिम्ब के दर्शनपूर्वक भोजन का तो क्या, जिनबिम्ब के दर्शन का भी कोई नियम नहीं होता। वैसे ही चर्यादिक को जाते समय यदि कोई जैन मन्दिर अचानक रास्ते में आ जाता है तो वे दर्शन कर लेते हैं अन्यथा नहीं। (२) वे सब सज्जन भी पशुओं की कोटि में आते हैं जो अपने यहाँ जैन मन्दिर के न होने या सफर में रहने आदि किसी कारण के वश बिना जिनबिम्ब का दर्शन किये ही भोजन कर लेते हैं अथवा कुछ खा-पीकर दर्शन करते हैं—भले ही वे कैसे ही सभ्य, शिष्ट, धर्मात्मा एवं मनुष्योचित कार्यों के करने वाले क्यों न हों! (३) सारे अजैन जन भी पशुतुल्य करार पाते हैं, जिनमें बड़े-बड़े सन्त-महन्त, सत्पुरुष त्यागमूर्ति, परोपकारी, पूज्य देशनेता और गाँधीजी जैसे महात्मा भी शामिल हैं! क्योंकि वे लोग बिना जिनबिम्ब का दर्शन किये ही भोजन किया करते हैं!! (४) उन सब दुष्टों, धूर्तों तथा पापात्माओं को भी मनुष्यत्व का सर्टिफिकेट मिल जाता है, जो किसी तरह भोजन से पहले जिनबिम्ब का दर्शन तो कर लेते हैं परन्तु अन्य प्रकार से जिनके पास धर्माचार या विवेक जैसी कोई वस्तु नहीं होती और जो मनुष्य हत्याएँ तक कर डालते हैं!

मालूम नहीं यह कौन से आगम का अद्भुत विधान है! जैनागम का तो ऐसा कोई विधान है नहीं और न हो सकता है। संभवतः यह ग्रन्थकार के उस कलुषित हृदयागम का ही विधान जान पड़ता है जो ढूँढिया भाइयों पर गालियों की वर्षा करते समय उसके सामने खुला हुआ था।

इसी तरह का एक अत्यन्त संकीर्ण हृदयोद्गार ग्रन्थकार ने और भी निकाला है और वह इस प्रकार है—

पश्यन्ति नैव ये मूढाः जिनबिम्बं जगन्नुत्तम।

कदापि तन्मुखो नैव दर्शनीयो बुधोत्तमैः॥ पृ० १९५॥

इसमें बतलाया गया है कि “जो लोग जिनबिम्ब का दर्शन नहीं करते हैं उन मूढ़ों का कदापि मुँह नहीं देखना चाहिए!”

इस व्यवस्था के अनुसार देश की प्रायः सारी महाविभूतियाँ-पूज्य व्यक्तियाँ-भी जैनियों के लिये नहीं-नहीं इस ग्रन्थ के मानने वालों के लिये, अदर्शनीय हो जाती हैं! उन्हें देश के दूसरे पूज्य नेताओं, राजाओं, हाकिमों से नहीं मिलना चाहिए। अन्य व्यापारियों, सेवकों तथा शिल्पकारों से भी बात नहीं करनी चाहिए!! और रास्ता चलते हुए आँखें बन्द करके अथवा अपने मुँह पर पल्ला डालकर चलना चाहिए, क्योंकि चारों तरफ ऐसे ही लोग भरे पड़े हैं जो जिनबिम्ब का दर्शन नहीं करते कहीं उनका मुख न दिखलाई पड़ जाये!!! कैसी अद्भुत व्यवस्था और कैसी हृदयहीनता है!! इस व्यवस्था पर दृढ़ता के साथ अमल करने (चलने) वाले क्या संसार में कुछ अधिक समय तक जीवित रह सकते हैं या अपनी कुछ उन्नति कर सकते हैं? कदापि नहीं। फिर उनके द्वारा अपने धर्म का प्रचार अथवा लोगों को जिनबिम्ब के दर्शन की ओर लगाने का कार्य तो बन ही कैसे सकता है? निःसंदेह, इस प्रकार की शिक्षाओं ने जैन समाज को बहुत बड़ी हानि पहुँचाई है और जैनियों को पतन के खुले मार्ग पर लगाया है!! अन्यथा, हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों आदि ने तो पतित से पतित मनुष्यों, भील-चाण्डालों और म्लेच्छों तक को, उनकी बाँह पकड़कर, सन्मार्ग पर लगाया है। वे यदि उनका मुँह ही न देखते तो उनका उद्धार कैसे कर पाते? परन्तु खेद है कि आज आचार्य कहे जाने वाले शान्तिसागर जी और उनके गणधर क्षुल्लक ज्ञानसागर जी ऐसी विपैली शिक्षाओं से परिपूर्ण ग्रन्थ का भी अनुमोदन तथा प्रचार करते हैं और जैन समाज उनसे कुछ भी जवाब तलब नहीं करता-उन्हें बराबर आचार्य तथा क्षुल्लक मानता चला जाता है! इससे अधिक जैन समाज का पतन और क्या हो सकता है!

९. कर्म सिद्धान्त की नई ईजाद!

भगवान् से राजा श्रेणिक के कुछ प्रश्नों का उत्तर दिलाते हुए, एक स्थान पर लिखा है कि “म्लेच्छों से उत्पन्न हुए स्त्री-पुरुष मरकर व्रतहीन मनुष्य (स्त्री-पुरुष) होते हैं।” यथा-

म्लेच्छोत्पन्ना नरा नार्यः मृत्वा हि मगधेश्वर!

भवन्ति व्रतहीनाश्च इमे वामाश्च मानवाः॥ पृ० ३७७॥

इस विधान के द्वारा ग्रन्थकार ने कर्मसिद्धान्त की एक बिल्कुल ही नई ईजाद कर डाली है! क्योंकि जैनधर्म के कर्मसिद्धान्तानुसार म्लेच्छ सन्तानों के लिये न तो मनुष्यगति में जाने का ही कोई नियम है, जिसे सूचित करने के लिये ही यहाँ ‘मानवा’ पद का खास तौर से प्रयोग किया गया है। वे दूसरी गतियों में भी जा सकते हैं और जाते हैं और न अगले जन्म में व्रतहीन होना ही उनके लिये लाजिमी है। व्रतहीन होने के लिये चारित्रमोहनीय का एक भेद अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय कारण माना गया है और चारित्रमोहनीय के आस्रव का कारण “कषायोदयात् तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य”

इस सूत्र के अनुसार कषाय के उदय से तीव्र परिणाम का होना कहा गया है न कि किसी म्लेच्छ की सन्तान होना। म्लेच्छ की सन्तानें तो अपने उसी जन्म में व्रतों का पालन कर सकती हैं और महाव्रती मुनि तक हो सकती हैं, जिसके अनेक उदाहरण तथा विधान जैन शास्त्रों में पाये जाते हैं^{४९} तब उनके लिये अगले जन्म में लाजिमी तौर से व्रतहीन होने की कोई वजह ही नहीं हो सकती।

इसके सिवाय, इसी ग्रन्थ में एक स्थान पर लिखा है कि जैनधर्म को धारण करता हुआ श्वपच (म्लेच्छ विशेष भी) 'श्रावकोत्तम' माना गया है, कुत्ता भी व्रत के योग से देवता हो जाता है और एक क्रीड़ा भी लेशमात्र व्रत के प्रसाद से उत्तम गति को प्राप्त होता है। तथा दूसरे स्थान पर लिखा है कि मातङ्ग (म्लेच्छ विशेष) आदि मनुष्यों ने शुद्ध एक (कर्म दहन) व्रत का पालन करने से सुख को प्राप्त किया है। यथा—

“श्वपचो जिनधर्मेण कथितः श्रावकोत्तमः।”...

“ह्यलको वृतयोगेन देवत्वे जायेते खलु।”...

“कीटोऽपि व्रतलेशेन भजते गतिमुत्तमाम्॥ पृष्ठ ३७॥ ”

“मातंगाद्याश्च ये मर्त्याः शुद्धैकव्रतपालनात्।

सुखमाप्ताः.....॥ पृष्ठ ३८१॥ ”

जब इसी ग्रन्थ के कथनानुसार श्वपच मातंग ही नहीं किन्तु कुत्ता और कीड़ा भी व्रत का पालन कर सकता है तब एक म्लेच्छपुत्र या पुत्री व्रत का अनुष्ठान करते हुए मरकर मनुष्य होने पर भी व्रत का पालन न कर सके सर्वथा व्रतहीन ही रहे—यह कैसे बन सकता है? अतः ग्रन्थकार की यह नई ईजाद अथवा व्यवस्था बिल्कुल उसकी नासमझी पर अवलम्बित है, वास्तविकता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं और उसे एक उन्मत्त प्रलाप से अधिक कुछ भी महत्त्व नहीं दिया जा सकता। इसी तरह की और भी कितनी ही बातें कर्म सिद्धान्त की विडम्बना को लिये हुए पाई जाती हैं, जिन्हें यहाँ छोड़ा जाता है।

१०. स्त्री जाति का घोर अपमान!

ग्रन्थ के शुरू में भगवान् के मुँह से पंचमकाल के भविष्य का वर्णन कराते हुए एक स्थान पर

४१. देखो, हरिवंश पुराणादि ग्रन्थ, जिनमें अनेक भीलों, चाण्डालों, म्लेच्छों के व्रतपालनादि का उल्लेख है। 'जरा' नाम की म्लेच्छ कन्या से उत्पन्न हुए 'जरत्कुमार' ने भी अन्त को मुनिदीक्षा ली थी, जिसका उल्लेख भी जिनसेन के हरिवंशपुराण में है। इसके सिवाय, लब्धिसार की टीका के निम्न अंश से साफ प्रकट है कि म्लेच्छ देशों से आये हुए म्लेच्छ तथा म्लेच्छ कन्याओं से चक्रवर्त्यादिक के वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न पुत्र जैन मुनि दीक्षा के अधिकारी हैं—
“म्लेक्षभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं भवतीति नाशंकितव्यं। दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सहजातवैवाहिक सम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्।” (गाथा नं० १९३)

लिखा है-

शीलहीना भविष्यन्ति वामास्तस्मिन्मदोद्धताः ।
 त्यक्त्वा च स्वपतिं दासं भोक्ष्यन्ति कालदोषतः॥१००॥
 लक्षकोटिषु शीलाढ्या नारी ह्येका नराधिराट्!
 शुद्धशीलधरा नापि भविष्यन्ति न संशयः॥१०१॥

अर्थात् पंचमकाल में स्त्रियां शीलरहित तथा मदोद्धत होंगी और काल दोष से अपने पति को छोड़कर नौकर से भोग करेंगी। हे राजन्! लाखों-करोड़ों स्त्रियों में कोई एक स्त्री शीलवती होगी और शुद्धशील का पालन करने वाली तो कोई होगी ही नहीं!

इस भविष्य-कथन के अनुसार भारतवर्ष में इस वक्त मन-वचन-काय से प्रसन्नतापूर्वक शुद्ध शीलव्रत का पालन करने वाली तो कोई स्त्री होनी ही न चाहिए। जो किसी मजबूरी आदि के कारण काय से शीलव्रत का पालन करती हो, उनकी संख्या भी ५० या ज्यादा से ज्यादा १०० के करीब होनी चाहिए। जैन समाज की स्त्री-संख्या छह लाख के करीब है, इसलिये उनमें तो कोई एकाध स्त्री ही वैसी शीलवती होनी चाहिए। बाकी सब स्त्रियों को व्यभिचारिणी समझना चाहिए!!

यह कथन प्रत्यक्ष के कितना विरुद्ध और विपरीत है, उसे बतलाने की जरूरत नहीं। देश-काल का थोड़ा सा भी व्यापक ज्ञान रखने वाले इसे सहज ही में समझ सकते हैं। हां इतना जरूर कहना होगा कि इसके द्वारा स्त्रियों की पवित्रता पर जो व्यर्थ का निरर्गल आक्रमण और अविवेकपूर्ण भारी दोषारोपण किया गया है वह स्त्री जाति का घोर अपमान है और एक ऐसा अपराध है जो क्षमा नहीं किया जा सकता। वास्तव में भगवान् महावीर के बाद से आज तक देश में हजारों लाखों देवियां पूर्ण रूप से पतिव्रत धर्म का पालन करने वाली परम सुशीला, पतिपरायणा और देश की गौरवरूपिणी हो चुकी हैं। उनकी यह अवज्ञा किसी तरह भी सहन नहीं की जा सकती। इस समय भी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक शीलसम्पन्न तथा अधिक पवित्र जीवन बिताने वाली हैं और जो पतित भी होती हैं वे प्रायः पुरुषों के द्वारा ही पतन के मार्ग में लगाई जाती हैं, फिर भी पुरुषों के शीलविहीन होने की बाबत ऐसा कुछ नहीं कहा गया, यह आश्चर्य है! और वह ग्रन्थकार के पूर्ण अविचार तथा उसके किसी स्वार्थ को सूचित करता है।

११. शूद्र जलादि के त्याग का अजीव विधान!

इस ग्रन्थ में कुछ स्थानों पर शूद्रस्पर्शित जल घृतादि को त्याज्य बतलाते हुए लिखा है-

“निन्द्यं स्यात्सर्वमासेषु न्यादपानादिकं खलु ।
 शूद्रकरेण संस्पृश्य सदाचारविनाशकम्॥१३३॥
 मद्यमांसमधूनां यदशनाद्दोषो जायेते ।
 वै स्यात्तद्धस्तसंपर्क-वस्तुमक्षणतो बुधाः॥१३४॥
 ये पुनः शूद्रहस्तस्य भाद्रमासे व्रतेषु च ।

चूर्णोदकाज्यं खादन्ति ते नरास्तत्समा मताः॥१३५॥ ”

“शूद्रस्पृश्यं जलं चूर्णं घृतं ग्राह्यं व्रताप्तये।

नैव गृह्णन्ति ये मूर्खास्तत्समास्ते बुधैर्मताः॥१६०॥ ” -पृष्ठ ३६, ३७, २१४

अर्थात् शूद्र का हाथ लगा हुआ भोजन-पानादिक निश्चय से सदाचार का विनाशक है, सभी महीनों में निन्द्य है (खाने के योग्य नहीं)। हे बन्धुजनों! जो दोष मद्य मांस मधु के खाने से लगता है, वही शूद्र का हाथ लगी वस्तु के खाने में लगता है। जो लोग भादों के महीने में तथा व्रतों में शूद्र के हाथ का जल, घृत और आटा खाते हैं, वे शूद्रों के समान माने गये हैं। व्रत की (कर्मदहन-व्रत की) सिद्धि के लिये शूद्र स्पर्शित जल, घृत और आटा ग्रहण नहीं करना चाहिए, जो मूर्ख ग्रहण करते हैं वे शूद्रों के समान ही माने गये हैं।

एक स्थान पर तो यहां तक भी लिखा है कि जो लोग खानपानादि सम्बन्धी कामों के लिये-उनकी तैयारी में सहायता पहुँचाने आदि के लिये^{४२} शूद्रों को अपने घर पर (नौकर) रखते हैं वे श्रावक कैसे हो सकते हैं? उन्हें निश्चय से शूद्रों के समान समझना चाहिए। यथा-

शूद्रलोकस्य ये धाम्नि रक्षन्ति ते कथं मताः।

खानपानादिकर्मार्थं श्रावकास्तत्समाः खलु॥ पृ० ३२॥

मालूम नहीं, ये सब विधान कौनसी कर्मफिलासॉफी अथवा धर्मशास्त्र की किस आज्ञा से सम्बन्ध रखते हैं! और न यही कुछ समझ में आता है कि मात्र शूद्र के हाथ का स्पर्श होने से ही भोजन पान की कोई सामग्री निन्द्य (सदोष) क्यों कर हो जाती है? कैसे सदाचार की विनाशक बन जाती है? और उसके भक्षण से मद्य-मांस-मधु के भक्षण का दोष (पाप) किस प्रकार लगता है? कोई मनुष्य महज भादों अथवा व्रत के दिनों में शूद्रस्पर्शित जल, घृत और आटे के लेने से ही-बिना शूद्र का कर्म किये अथवा शूद्र की वृत्ति को अपनाये ही-शूद्र कैसे बन जाता है? शूद्र बना देने की वह विशेषता जल, घृत और आटे को ही क्यों प्राप्त है? दूध, दही, गुड़, शक्कर, बूरा, खांड, दाल, चावल, तिल, गेहूं, चना आदि सालिम अनाज और फल शाकादिक को वह क्यों प्राप्त नहीं है? यदि प्राप्त है तो फिर दोनों में से किसी भी श्लोक में उनका उल्लेख क्यों नहीं किया गया? ‘आदि’ शब्द तक भी क्यों साथ में नहीं लगाया गया? और प्राप्त होने पर कोई भी मनुष्य शूद्र की पदवी पाने से वंचित कैसे रह सकता है? इसी तरह बर्तन मांजने, चौका चूल्हा करने, पानी भरने, दुग्धादि गर्म करने तथा लाकर देने, आटा छानने और शाकादि ठीक करने जैसे कामों के लिये घर पर सत् शूद्र की योजना होने से ही घर के लोग शूद्र कैसे बन जाते हैं? बड़ा ही अजीब विधान है!!!

क्या ग्रन्थकार की दृष्टि में सारे ही शूद्र असदाचारी तथा मद्यमांसादिक के खाने वाले होते हैं और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में से कोई भी असदाचारी तथा मद्य, मांस, मधु का सेवन करने वाला नहीं होता

४२. जैसे बर्तन मांजना, चौका चूल्हा करना, पानी भरना, दुग्धादि गर्म करना तथा लाकर देना, आटा छानना और शाकादि ठीक करना जैसे कामों के लिये।

है? यदि ऐसा नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष में हजारों शूद्र बड़े सदाचारी, ईमानदार तथा सफाई के साथ रहने वाले देखे जाते हैं और उनकी कितनी ही जातियां मद्य, मांस का स्पर्श तक नहीं करतीं, प्रत्युत इसके, लाखों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य दुराचारी पाये जाते हैं, मद्य-मांसादिक का खुला सेवन करते हैं और कितने ही जैनी भी महादुराचारी तथा कुछ मद्य मांसादिक का सेवन करने वाले भी नजर आते हैं, तब फिर शूद्रों के विषय में ही ऐसा नियम क्यों? उनके प्रति यह अन्याय क्यों? और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के साथ अनुचित पक्षपात क्यों? क्यों ऐसा नियम नहीं किया गया कि जो लोग दुराचारी तथा मद्य मांसादिक का सेवन करने वाले हों, उनके हाथ का भोजनपान नहीं करना, भले ही वे जैनी क्यों न हो? यदि ऐसा नियम किया जाता तो वह कुछ समुचित एवं न्यायानुमोदित भी जान पड़ता और दिल को भी लगता। प्रत्युत इसके, ऊपर का विधान बिल्कुल जैनधर्म की शिक्षा के बाहर है—शूद्रों के प्रति घृणा, तिरस्कार एवं दूषित मनोवृत्ति का द्योतक है। जैनधर्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये भेद वृत्ति (आजीविका) के आश्रित हैं और इन सभी को जैनधर्म के पालन का अधिकारी बतलाया है। सभी लोग वर्णानुसार अपनी अपनी आजीविका करते हुए जैनधर्म का यथायोग्य पालन कर सकते हैं और जैनी हो सकते हैं। शूद्र तो शूद्र, भीलों चाण्डालों एवं म्लेच्छों तक के जैनधर्म को धारण करके जैन व्रतों का पालन करने के उदाहरणों और विधानों से जैन ग्रन्थ भरे पड़े हैं, जिनका कुछ थोड़ा-सा परिचय लेखक की 'जैनी कौन हो सकता है' इस नाम की पुस्तक से भी मिल सकता है। खुद इस ग्रन्थ में भी एक स्थान पर 'व्रतपालनात् शूद्रोऽपि श्रावको ज्ञेयः' जैसे वाक्य के द्वारा व्रत पालन करते हुए शूद्र को श्रावक लिखा है, एक दूसरे स्थान पर श्वपच (चाण्डाल) के श्रावकोत्तम होने का उल्लेख किया है और तीसरे स्थान पर मातंगादिक ने कर्मदहन व्रत का पालन कर सुख पाया, ऐसी सूचना की गई है। क्या एक शूद्र या मातंग (चाण्डाल), कर्मदहन व्रत का अनुष्ठान करता हुआ और इसलिये व्रत विधि के साथ अनुगत भगवान् का अभिषेक पूजनादि करता हुआ भी, खुद अपने हाथ का भोजन न करके किसी ब्राह्मणादि के हाथ का भोजन करता फिरेगा? कैसी अजीब विडम्बना होगी! ग्रन्थकार को इन सब पूर्वापरसम्बन्धों आदि की कुछ भी खबर नहीं पड़ी और उसने यों ही बिना सोचे समझे उन्मत्तों की तरह जो जी में आया लिख मारा!! और साथ में भगवान् महावीर को भी घसीट मारा, क्योंकि ये सब वाक्य भी उन्हीं के मुख से और उन्हीं के शासन के विरुद्ध कहलाये गये हैं!!! जिन भगवान् महावीर ने शूद्रों का संकट दूर किया, उन पर होते हुए ब्राह्मणों के अत्याचारों का तीव्र विरोध कर उन्हें हटाया और उन्हें सब प्रकार की धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की, उन्हीं के मुख से शूद्रों के प्रति ऐसे अन्याय तथा तिरस्कारमय शब्दों का निकलना कब संभव हो सकता है और कौन सहृदय उस पर विश्वास कर सकता है? कोई भी नहीं, और कभी भी नहीं।

१२. भगवान् की मिट्टी खराब!

इस ग्रन्थ में भगवान् महावीर के मुख से बहुत-सा असम्बद्ध प्रलाप कराकर और अनेक आपत्ति के योग्य, पूर्वापरविरुद्ध, इतिहासविरुद्ध, सत्यविरुद्ध तथा अपने ही शासन के विरुद्ध कितनी ही बेढंगी

बातें कहलाकर और भगवान् को अच्छा खासा मूर्ख, अविवेकी, अनुदार, साम्प्रदायिक कट्टर, विक्षिप्तचित्त, असभ्य, अशिष्ट, कषायवशवर्ती और कलुषित हृदय क्षुद्र व्यक्ति चित्रित करके उनकी कैसी मिट्टी खराब की गई है, इसका कितना ही परिचय पाठकों को अब तक के उल्लेखों द्वारा प्राप्त हो चुका है। यहां पर दो-तीन बातें और भी इसी विषय की प्रकट की जाती हैं-

(क) सम्मेदाचल के प्रकरण में, कूटों के नामादिसम्बन्धी राजा श्रेणिक के प्रश्न को लेकर, भगवान् महावीर से सम्मेदशिखर का स्तोत्र^{४३} कराया गया है और उसमें उनसे “अहं नमामि शिरसा त्रिशुद्ध्या तं तीर्थराजं शिवदायकं च”, “ईडे सदा तं शिवदायकं च” जैसे वाक्यों के द्वारा सिर झुकाकर पर्वतराज की पूजा वन्दना तक कराई गई है! इतना ही नहीं, बल्कि इस स्तोत्र की प्रतिज्ञा के अवसर पर भगवान् को गणधरों, सर्व मुनियों तथा जिनवाणी के भी आगे नतमस्तक किया गया है अर्थात् उन्हें भी नमस्कार कराकर स्तोत्र की प्रतिज्ञा कराई गई है!! यथा-

नत्वा श्रीजिननायकान् गणधरान्देवेन्द्रवृन्दार्चितान्
मौनीन्द्रान् सकलान् तथा च सुखदां जैनेन्द्रवक्त्रोद्भवाम्।
वाणीं पापप्रणाशिकां मुनिनुतां सद्बुद्धिदां पावनीं

सम्मेदाभिधपर्वतस्य शिवदं स्तोत्रं करोमि शुभम्॥ -पृष्ठ २६५

मालूम नहीं जिनेन्द्र-पदवी और परम आर्हन्त्य दशा को प्राप्त भगवान् महावीर का अपने ही उपासक गणधरों तथा मुनियों और अपनी ही वाणी के-अपने ही शास्त्रों के-आगे सिर झुकाने का तथा पर्वत की स्तुति वन्दना का क्या अभिप्राय और उद्देश्य हो सकता है! वास्तव में तो इस प्रकार की स्तुति तथा पूजा-वन्दना जिनेन्द्रपद की एकमात्र विडम्बना है अथवा यों कहिये कि ये सब भगवान् महावीर की उस स्थिति तथा पोजीशन के विरुद्ध है जिसे लिये हुए वे केवलज्ञान के पश्चात् समवसरण में स्थित थे। वे इन मुनियों आदि की वन्दना और पर्वतों की स्तुतिपूजा के भाव से बहुत ऊँचे उठ चुके थे-उपासकों की इस श्रेणी से ही निकल चुके थे और इसलिये उन से इस प्रकार की क्रियाएँ कराना सचमुच ही उनकी मिट्टी खराब करना है!! उन्हें एक तरह से जलील (अपमानित) करना है!!!

(ख) कर्मदहन व्रत के फलकथन में-जो राजा श्रेणिक को सुनाया गया है-मोक्ष-स्थानादि का वर्णन करते हुए, “ईदृशे मगधाधीश मोक्षस्थाने मनोहरे” इत्यादि श्लोक से पहले एक ही श्लोक के अंतर पर निम्न श्लोक दिया है और उसके द्वारा भगवान् महावीर से मुक्त जीवों के प्रति यह प्रार्थना और याचना कराई गई है कि वे उसे बोधि और समाधि प्रदान करें-

ते मया संस्तुताः सर्वे चिन्मयाः कायवर्जिताः।
मे समाधिं सुबोधिं च यच्छन्तु नोपरा इह ॥११॥

४३. इस स्तोत्र में राजा श्रेणिक को संबोधन करने के लिये नृप, नृपते, मगधाधीश, नराधीश और चेलनापते जैसे पदों का प्रयोग किया गया है।

इससे मालूम होता है कि समवसरण स्थित भगवान् महावीर बोधि और समाधि से विहीन थे! उन्हें दोनों को जरूरत थी और इसलिये स्तुति के अनंतर उन्होंने उनके लिये याचना की है!! और शायद इसीलिये उन्होंने, स्तुति का प्रारम्भ करते हुए, “किंचित् बुद्धि-लवेन भव्यवचसा तेषां च कुर्वे स्तवं” इस वाक्य के द्वारा अपने को थोड़ी-सी बुद्धि का धारक भी सूचित किया है!!! ‘बोधि’ अर्हद्धर्म की प्राप्ति को, सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) को तथा पूर्ण ज्ञान को भी कहते हैं, और ‘समाधि’ स्वरूप में चित्त की स्थिरता का नाम है अथवा “प्रशस्तं ध्यानं शुक्लं धर्म्यं वा समाधिः” इस श्री विद्यानन्द के वाक्यानुसार धर्म्य और शुक्ल नाम के प्रशस्त ध्यानों को भी समाधि कहते हैं। अब पाठकजन सोचिये, कि क्या केवलज्ञान और केवल सम्यक्त्व आदि क्षायिक गुणों को पाकर अथवा परम आर्हन्त्य पद को प्राप्त होकर भी भगवान् महावीर बोधि-समाधि से विहीन थे? उन्हें पूर्ण ज्ञान नहीं था? स्वरूप में उनका चित्त स्थिर नहीं था? और वे प्रशस्त ध्यानी नहीं थे? यदि ऐसा कुछ नहीं है तो फिर ऐसे आप्तपुरुषों से बोधि-समाधि की याचना कराना और उन्हें थोड़ी-सी बुद्धि का धारक प्रकट कराना उनकी तथा अर्हत्पद की मिट्टी खराब करना नहीं तो और क्या है? अर्हन्तों से तो दूसरे लोग ‘दितुं समाहिं च मे बोहिं’ जैसे शब्दों के द्वारा बोधिसमाधि की प्रार्थना किया करते हैं, वे यदि खुद ही बोधि-समाधि से विहीन हों तो उनकी उपासना से इस विषय में लाभ भी क्या उठाया जा सकता है? और उनकी अर्हन्तता अथवा आप्तता का महत्त्व भी क्या हो सकता है? कुछ भी नहीं।

(ग) दिगम्बर तेरहपंथियों से भगवान् की झड़प के समय निम्न वाक्य भी भगवान् के मुख से कहलाये गये हैं—

“ह्यधुना पंचमे काले नो सन्ति भो बुधोत्तमाः।

तीर्थकराः सुरैः पूज्याः केवलज्ञानमंडिताः॥८५॥

प्रत्यक्षं केवली नास्ति अतस्तत्स्थापना मता।

स्थापनायां मताः सर्वाः क्रियाः वै स्नपनादिकाः॥१०३॥

कालेऽस्मिंश्चलचित्तकरे मिथ्यात्वपूरिते।

नैव दृश्यन्ते योगीन्द्रा महाव्रतधरा वराः॥११३॥

इनके द्वारा भगवान् महावीर कहते हैं— “हे उत्तम बुधजनों! इस वक्त (अधुना) पंचमकाल में निश्चय से केवलज्ञान मंडित और देवों से पूज्य तीर्थकर नहीं हैं। प्रत्यक्ष में कोई केवली नहीं है, इसलिये केवली की स्थापना मानी गई है। और स्थापना में निश्चय से अभिषेकादि सारी क्रियाएं स्वीकार की गई हैं। इस चलचित्तकारी और मिथ्यात्व से पूरित (पंचम) काल में महाव्रतों को धरने वाले श्रेष्ठ योगीन्द्र दिखलाई ही नहीं देते।”

भगवान् महावीर चतुर्थ काल में हुए हैं, वे खुद तीर्थकर थे, केवली थे और उनके समय में बहुत-से महाव्रतधारी गौतमादि योगीन्द्र मौजूद थे और बाद को पाँचवें काल में भी भद्रबाहु, धरसेन, कुन्दकुन्द, समन्तभद्र और जिनसेनादि कितने ही श्रेष्ठ योगीन्द्र हो चुके हैं जिन्हें इस ग्रन्थ में भी

‘इत्याद्या वरयोगीन्द्राः’ जैसे शब्दों के द्वारा ‘वरयोगीन्द्र’ प्रकट किया गया है^{४४}, तब भगवान् का पंचम काल के साथ ‘अधुना’ शब्द जोड़कर अपने समय को पंचम काल बतलाना, खुद तीर्थंकर तथा केवली होते हुए भी उस समय तीर्थंकर तथा केवली का अभाव प्रकट करना और अपने सामने गौतमादि गणधरों जैसे महायोगीन्द्रों के मौजूद होते हुए भी “इस समय कोई महाव्रतधारी योगीन्द्र दिखलाई नहीं देते” ऐसा कहना कितना हास्यास्पद तथा आश्चर्यजनक है और उसके द्वारा भगवान् का कितना गहलापन तथा उन्मत्तप्रलाप पाया जाता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। भगवान् के मुँह से इन वाक्यों को कहलाकर ग्रन्थकार ने निःसंदेह भगवान् की बड़ी ही मिट्टी खराब की है और उन्हें कोरा बुद्धू ठहराया है!!

यदि भगवान् कहीं इस समय सजीव देहधारी होते या देहधारण कर यहाँ आते और इस ग्रन्थ को देख पाते तो आश्चर्य नहीं जो वे यों कह उठते—

“जौहर थे खास मुझ में आप्तस्वरूप के।

यों स्वांग बना क्यों मेरी मिट्टी खराब की!!”

सचमुच ही इस सारे ग्रन्थ में भगवान् महावीर का स्वांग बनाकर और उससे अटकलपच्चू यद्वा-तद्वा कहलाकर उनकी खूब अच्छी तरह से मिट्टी खराब की गई है, उनके ज्ञान, श्रद्धान, विवेक, अकषायभाव, समता, उदारता, सत्यवादिता, सभ्यता, शिष्टता, पदस्थ और पोजीशन आदि सब पर पानी फेरा गया है और उन्हें कठपुतली की तरह नचाते हुए विद्वानों की दृष्टि में ही नहीं, किन्तु साधारण जनों की दृष्टि में भी बहुत कुछ नीचे गिराया गया है!! यह सब ग्रन्थकार पंडित नेमिचन्द्र की धूर्तता, मूढ़ता, अविवेक परिणति, कषायवशवर्तिता, साम्प्रदायिक कट्टरता, स्वार्थसाधुता, क्षुद्रता और उस अहंकृति का ही एक परिणाम जान पड़ता है, जिसने उससे यह गर्वोक्ति तक कराई थी कि ‘इस ग्रन्थ के श्रवणमात्र से प्रतिपक्षीजन मंत्रकीलित नागों की तरह मूकवत् स्थिर हो जायेंगे, उन्हें इसके विरुद्ध बोल तक नहीं आएगा^{४५}!’ वह अपनी अज्ञानता, विक्षिप्तचित्तता और अहंकारादि के वश हुआ भगवान् महावीर के पार्ट को इस ग्रन्थ में जरा भी ठीक तौर से अदा नहीं कर सका—खेल नहीं सका!! उसने व्यर्थ ही अपने हृदय, अपने अज्ञान, अपने संस्कारों, अपनी कषायवासनाओं, अपनी बातों और अपने कहने के ढंग को भगवान् महावीर के ऊपर लादा है!!! और इसलिये इस ग्रन्थ को रचकर उसने जो घोर अपराध किया है वह किसी तरह भी क्षमा किये जाने के योग्य नहीं है। ऐसे महाजाली, झूठे, निःसार, अनुदार, प्रपंची और असम्बद्ध प्रलापी एवं विरुद्ध कथनों से परिपूर्ण ग्रन्थ को किसी तरह भी जैन ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। इसे जैन ग्रन्थों का भारी कलंक समझना चाहिए और इसलिये जितना भी शीघ्र हो सके इसका जैन समाज से बहिष्कार किया जाना चाहिए।

४४. इसके लिये देखो, पृष्ठ २७ पर उद्धृत श्लोक नं० १५४ से १५६।

४५. इस गर्वोक्ति द्योतक मूल वाक्य पृष्ठ १६ पर उद्धृत किया जा चुका है।

यह तो हुई प्रायःमूल ग्रन्थ की जाँच और परीक्षा अथवा विशेष आलोचना^{४६}। अब ग्रन्थ के अनुवाद को भी लीजिये।

अनुवादक की निरंकुशता और अर्थ का अनर्थ!

इस ग्रन्थ के अनुवाद में अनुवादक पं० नन्दलालजी ने, जो अनुवाद के समय 'ब्रह्मचारी ज्ञानचन्द्र जी महाराज' थे और अब 'क्षुल्लक ज्ञानसागर जी महाराज' के रूप में शांतिसागर संघ में विराजमान हैं, जिस स्वच्छंदता एवं निरंकुशता से काम लिया है और उसके द्वारा जो अनर्थ घटित किया है उसका यदि पूरा परिचय कराया जाये और ठीक-ठीक आलोचना की जाये तो एक अच्छा खासा बड़ा ग्रन्थ बन जाये। अब तक के लेख परिमाण से उसका परिमाण बहुत बढ़ जाये। परन्तु मैं अब इस निबन्ध को अधिक बढ़ाना नहीं चाहता हूँ, अनुवादक की इस निरंकुशता आदि का कितना ही परिचय पिछले पृष्ठों में भी प्रसंग पाकर दिया जा चुका है और उसके द्वारा ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारादि का जो स्वरूप प्रकट किया गया है उसे देखते हुए बहुत अधिक लिखने की कुछ जरूरत भी मालूम नहीं होती। अतः प्रकृत ग्रन्थ के अनुवाद-सम्बन्ध में संक्षेप रूप से कुछ थोड़ा-सा विशेष परिचय और करा देना चाहता हूँ, जिससे पाठकों को अनुवाद की असलियत, निःसारता और अनुवादक की प्रकृति, प्रवृत्ति एवं चित्तवृत्ति के समझने में विशेष मदद मिले और वे उन सबका यथेष्ट अनुभव कर सकें।

अनुवाद स्थिति का सामान्य परिचय

इस ग्रन्थ के सारे अनुवाद में अनुवादक महाशय को उत्तरदायित्वशून्य प्रवृत्ति (निरंकुशता) के साथ-साथ प्रायः यह मनोवृत्ति काम करती हुई दिखलाई देती है कि अपने मन्तव्यों को पुष्ट करने वाली भट्टारकीय शासन की बातों का प्रचार किया जाये, भट्टारकीय मार्ग की पुनः प्रतिष्ठा की जाये, शास्त्र की ओट में अपने युक्तिशून्य विचारों को चलाया जाये, लोग परीक्षाप्रधानी न रहें, न बनें, किन्तु अन्धश्रद्धालु बनें, भट्टारक मुनियों, नग्न भट्टारकों और उनके गणधरों एवं पृष्ठपोषकों की किसी भी प्रवृत्ति के विरुद्ध कोई अंगुली न उठावे-आलोचना न करे, सब लोग उनकी भरपेट पूजा-उपासना, सेवा-सुश्रुषा किया करे अथवा सब प्रकार की उनकी आवश्यकताओं को पूरा करते हुए उनके पूर्ण भक्त बनें, उनकी आज्ञा में चलें, उनके साहित्य को, ग्रन्थों को, क्रियाकाण्ड को पूरा मान देवें, अपनावें और उनके इशारों पर नाचा करें और इस तरह सर्वत्र उन्हीं की एक सत्ता कायम हो जाये! इसीलिये उन्होंने अपने तथा अपने गुरुओं के मार्गकण्टकों, सुधारकों, तेरहपंथियों एवं परीक्षाप्रधानियों पर जगह-जगह बात-बिनबात व्यर्थ आक्रमण किये हैं, उन्हें बिना ही किसी हेतु के मिथ्यादृष्टि,

४६. इसमें ग्रन्थ के भाषा साहित्य की आलोचना को जान बूझकर अनावश्यक समझते हुए शामिल नहीं किया गया, जो कि व्याकरणादि सम्बन्धी बहुत कुछ त्रुटियों तथा दोषों से परिपूर्ण है और जिसके लिये प्रकाशक को ही, उसके कुछ अशुद्ध प्रयोगों को देखकर, यहां तक लिखना पड़ा कि वह "प्रचलित संस्कृत व्याकरण तथा कोष के अनुसार नहीं है"।

अश्रद्धानी, ढोंगी, आगमादि लोपक एवं अधार्मिक आदि बतलाया है! और मुनि भट्टारकों आदि की आलोचनाओं, उनकी असत्प्रवृत्तियों की निन्दाओं तथा उनके कुत्सित साहित्य की अथवा ग्रन्थमात्र की परीक्षाओं-समीक्षाओं को यों ही बुरा बतला दिया है!! साथ ही विधवा-विवाह की विजातीय-विवाह की, जातिपातिलोप की, भंगी चमारों की, समुद्रयात्रा की और शूद्रों के व्रत न पाल सकने आदि की ऐसी ही कुछ बातें उठाकर अथवा साथ में जोड़कर जिनका मूल-ग्रन्थ में कहीं नामनिशान तक भी नहीं है, जनता के ऊपर अपने विचारों को लादा गया है तथा अपने मार्गकण्टकों एवं सुधारकों आदि के विरुद्ध उसे भड़काकर अपना रास्ता साफ करने, अपने दोषों पर पर्दा डालने और अपना रंग जमाने का दूषित यत्न किया गया है। और इस सबके लिये अथवा यों कहिये कि अपनी तथा ग्रन्थ की बातों को चलाने और अपने दोषों को छिपाते हुए, अपना सिक्का जमाने के लिये, अनुवादक को कितनी ही चालाकी, मायाचारी एवं कपट-कला से काम लेना पड़ा है और प्रायः उस चोर की नीति का भी अनुसरण करना पड़ा है जो भागता हुआ यह कहता जाता है कि 'चोर! चोर!! पकड़ो! पकड़ो!! वह जाता है! इधर को भागा! बड़ा अनर्थ हो गया!! इत्यादि' और इस कहने में उसका एक मात्र आशय अपनी तथा अपने मार्ग की रक्षा और दूसरों को धोखे में डालना ही होता है!! सबसे पहले अनुवादक ने ग्रन्थकार पं० नेमिचन्द्र को आचार्य के आसन पर बिठलाया है, जिससे यह ग्रन्थ आचार्यप्रणीत एवं आर्षवाक्य के रूप में समझ लिया जाये! जैसा कि ग्रन्थ के पृष्ठ १८१ पर दिये हुए "आचार्य महाराज कहते हैं" इस निराधार वाक्य से तथा पृष्ठ ४०० पर "वंद्या नेमीन्दुनाम्ना" के अर्थ रूप में दिये हुए निम्न वाक्य-खण्ड से प्रकट है-

"नेमिचन्द्र (ग्रन्थकर्ता का नाम) आचार्य से वंदनीक"

परन्तु ग्रन्थकार नेमिचन्द्र कोई आचार्य नहीं था, बल्कि एक साधारण तथा धूर्त पंडित था। पं० शिवजीराम नाम के एक गृहस्थ का शिष्य था और उसने ग्रन्थ की प्रशस्ति में खुद अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख किया है, जिसका परिचय शुरू में (पृ० १४ पर) कराया जा चुका है।

इसके बाद अनुवादक को यह चिन्ता पैदा हुई कि ग्रन्थकार को आचार्य तो बना दिया परन्तु ग्रन्थ में दिया हुआ ग्रन्थ का निर्माण समय संवत् १९०९ यदि प्रकट किया गया तो यह सारा खेल बिगड़ जायेगा, ग्रन्थ बहुत ही आधुनिक हो जायेगा और तब ग्रन्थकार के आचार्य पद का कुछ भी महत्त्व अथवा मूल्य नहीं रहेगा, और इसलिये उसने इतनी चालाकी एवं मायाचारी से काम लिया कि पृष्ठ ४११ पर दिये हुए उस समयसूचक श्लोक नं० ३४३ का अर्थ ही नहीं दिया, जिसे अर्थसहित शुरू में पृ० ११ पर प्रकट किया जा चुका है-उस स्थान पर यह जाहिर तक नहीं होने दिया कि हम उसका अर्थ छोड़ रहे हैं!! अथवा उसका अर्थ नहीं हो सका!!!

इसके सिवाय, ग्रन्थ की जो बातें अनुवादक को इष्ट मालूम नहीं दी, उनका या तो उसने अर्थ ही नहीं दिया और या अपने मनोऽनुकूल अन्यथा एवं विपरीत अर्थ कर दिया है! और जो बातें मूलग्रन्थ में नहीं थीं और जिन्हें वह मूल के नाम पर प्रकट करना अथवा चलाना चाहता था, उन्हें उसने

प्रायः चुपके से मूल वाक्यों के अर्थ के साथ में इस तरह से शामिल कर दिया है, जिससे हिन्दी पाठकों द्वारा वे भी मूल ग्रन्थ की ही बातें समझ ली जायें और उन्हें पढ़ते समय यही मालूम होता रहे कि यह सब ग्रन्थकार आचार्य महाराज ही कह रहे हैं!! इस तरह अनुवादक की निरंकुशता और उसकी उक्त मनोवृत्ति के कारण इस ग्रन्थ के अनुवाद में बहुत कुछ अर्थ का अनर्थ हुआ है! और यह अनुवाद उच्छृंखलता, असावधानी एवं बेढंगेपन के साथ-साथ अर्थ की हीनता-न्यूनता, अर्थ की अधिकता-अतिरिक्तता (मूलबाह्यता) और अर्थ के अन्यथापन (वैपरीत्य) की एक बड़ी ही विचित्र मूर्ति बन गया है!! और इसलिये इसे बहुत ही विकृत तथा सदोष अनुवाद कहना चाहिए। अस्तु।

विशेष परिचय अथवा स्पष्टीकरण

अब मैं कुछ नमूनों अथवा उदाहरण के द्वारा अनुवाद की इस स्थिति को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ, जिससे पाठकों को इस विषय में कुछ भी संदेह न रहे—

(१) पृष्ठ ९८वें पर एक श्लोक निम्न प्रकार से अर्थसहित दिया है—

केवलाभिधयुक्तानां यतीनां सर्वदेवताः।

पलायिताश्च तस्माद्धि तत्प्रभावाच्च श्वानवत्॥४२८॥

अर्थ—“श्वेताम्बर यतियों के आराधन किये हुए समस्त देवतागण सरस्वती के प्रभाव से पलायमान हो गये जिससे उनका समस्त अभियान मिट्टी में मिल गया॥४२८॥ ”

इस अनुवाद में ‘श्वानवत्’ पद का कोई अर्थ नहीं दिया गया, जो कि पलायमान से पहले ‘कुत्तों की तरह’ ऐसे रूप में दिया जाना चाहिए था। जान पड़ता है अनुवादकजी को देवताओं के लिये ग्रन्थकार की यह कुत्तों की उपमा पसंद नहीं आई और इसलिये उन्होंने इस पद का अर्थ ही छोड़ दिया है! साथ ही, ‘जिससे उनका समस्त अभिमान मिट्टी में मिल गया’ यह वाक्य अपनी तरफ से जोड़ दिया है, जिसे अनुवादक की चित्तवृत्ति का एक रूप कहना चाहिए! मूल में इस अर्थ का द्योतक कोई भी शब्द नहीं है! इसी तरह का एक मूलबाह्य वाक्य पृष्ठ ९५ पर श्लोक नं० ४१२ के अर्थ में भी जोड़ा गया है, जो इस प्रकार है—

“और श्वेताम्बर यतियों के वस्त्र आकाश में उड़ा देने से (मंत्रद्वारा भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी के उड़ा देने से) उनको बड़ा ही नीचा देखना पड़ा।”

इसके सिवाय, ‘केवलाभिधयुक्तानां’ पद का जो अर्थ ‘श्वेताम्बर’ किया गया है वह मूल की (‘नाम मात्र के’ की) स्पिरिट से बहुत कुछ हीन है—ग्रन्थकार ने जिस विशेषण के साथ उन यतियों का उल्लेख किया है उसका ठीक द्योतन नहीं करता! और इसलिये उक्त अर्थ त्रिदोषयुक्त है।

(२) पृष्ठ २१६ पर के प्रथम सात श्लोकों में से जिस प्रकार अनुवादक महाशय ने ‘कर्मदहनव्रतस्य फलं शृणु समाधिना’ इत्यादि श्लोक नं० १७८ का अर्थ बिल्कुल ही नहीं दिया है, और जिसका परिचय ‘कुछ विलक्षण और विरुद्ध बातें’ नाम प्रकरण में नं० १ पर दिया जा चुका है, उसी प्रकार निम्न श्लोक का भी अर्थ नहीं दिया है—

प्राप्स्यति कां गतिं सैव तत्सर्वं कथयाम्यहं।

द्वादशानां गणानां तु दृढश्रद्धाय केवलम्॥१८०॥

यह श्लोक इतना सरल है कि इसका अर्थ देने में कुछ भी दिक्कत नहीं हो सकती थी, परन्तु जान पड़ता है अनुवादक जी के सामने इसके ‘द्वादशानां गणानां’ इन पदों ने कुछ उलझन पैदा कर दी है, क्योंकि उनके परममान्य पं० चम्पालाल जी ने चर्चासागर की १६वीं चर्चा में ‘गण’ का अर्थ ‘गणधर’ सूचित किया है और उनके भाई पं० लालारामजी ने उसकी टिप्पणी में ‘गणान्प्रति’ का अर्थ ‘गणधरों के प्रति’ करके उसको पुष्ट किया है, इसलिये यदि यहाँ ‘गणानां’ का अर्थ वही ‘गणधरों का’ किया जाता और कहा जाता कि ‘वह (कर्मदहन व्रत का अनुष्ठान करने वाला) किस गति को प्राप्त होगा उस सब का मैं बारह गणधरों की केवल दृढ़ श्रद्धा के लिये कथन करता हूँ तो वह जैन शास्त्रों के विरुद्ध पड़ता, क्योंकि जैन शास्त्रों में भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर माने गये हैं, बारह नहीं। और यदि ‘समूहों का’ अर्थ किया जाता और उसका आशय द्वादश सभा स्थित जीवों का लिया जाता तो वह उनके भाई तथा मान्य पं० चम्पालालजी के ही विरुद्ध नहीं बल्कि खुद उनके भी विरुद्ध पड़ता, क्योंकि उन्होंने भी इस ग्रन्थ में पृष्ठ ३७८ पर ‘गणाः’ का अर्थ ‘गणधर देव’ किया है! इसी उलझन के कारण शायद आपने इस श्लोक का अर्थ छोड़ दिया है! यह कितनी निरंकुशता और मायाचारी है!!

(३) पृष्ठ २५१ पर ग्रन्थकार ने सिद्धों का वर्णन करते हुए उनका एक विशेषण ‘पंचवर्णविराजिता’ दिया है, अनुवादक ने इसका भी कोई अर्थ नहीं दिया! इसी तरह ‘निरागमा’ आदि और भी कई विशेषणपदों का अर्थ छोड़ दिया है! इस पृष्ठ पर के श्लोक का अर्थ कितना बेढंगा और बेसिलसिले किया गया है वह सब देखने से ही सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार की निरंकुशता न्यूनाधिकरूप में प्रायः सर्वत्र पाई जाती है।

(४) पृष्ठ ३२ पर एक श्लोक निम्न प्रकार से दिया है—

धनान्धास्ते गृहे स्वस्य दासीदासान्कुलोज्झितान्।

रक्षयिष्यन्ति पानार्थं न्यादार्थं च खलाशयाः॥१२३॥

इसका सीधा-सादा अर्थ इतना ही होता है कि “वे धन से अन्धे हुए दुष्टाशय लोग अपने घर पर भोजनपान के लिये अकुलीन दासीदासों को रखेंगे।” परन्तु अनुवादक जी ने जो अर्थ दिया है वह इस प्रकार है—

अर्थ—“हे राजन् पंचमकाल में धनिक लोग अपने धन के मद में अंधे होकर विचाररहित हो जायेंगे, जिससे वे अपने गृह में नीच और अकुलीन नौकर-चाकरों को रखेंगे और उनके हाथ से भोजनपान करेंगे। जिस समय कुसंगति या कुशिक्षा से धनवान् लोगों की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, उस समय उनका विचार भी गंदा हो जाता है। उन्हें हिताहित का विवेक नहीं रहता, जिससे धर्म और सदाचार की पवित्र मर्यादा का विचार न कर अपने घर में नीच मनुष्यों को (दासदासी) रखकर उनके

हाथ का भोजन करने लग जाते हैं। नीच मनुष्यों के हाथ का भोजनपान करना धर्मशास्त्र की पवित्र आज्ञा से विरुद्ध है और सदाचार का लोप करने वाला है। जो लोग नीच मनुष्यों के हाथ का भोजनपान करते हैं, वे जैन नहीं हैं। उनके धर्म की श्रद्धा नहीं है। अतएव वे नाम मात्र के ही जैन हैं॥१२३॥”

पाठकजन! देखा, कितना मूलबाह्य यह अर्थ किया गया है! इसमें ‘हे राजन् पंचमकाल में’ ये शब्द तथा ‘जिस समय’ से लेकर ‘जैन है’ तक का सारा कथन अपनी तरफ से बढ़ाया गया है और उसे श्लोक नं० १२३ का अर्थ सूचित किया गया है!! इतने पर से भी अनुवादक की तृप्ति नहीं हुई तब इसी श्लोक में नीचे के अर्थ की और भी वृद्धि की गई है, और इसलिये १२३ नम्बर निम्न अर्थ के बाद दिया जाना चाहिए था, ऊपर गलती से दे दिया गया है।

“जो लोग अपवित्र साधनों के साथ समुद्रयात्रा कर नीच लोगों के हाथ का अपवित्र और अभक्ष्य भोजन कर अपने को सम्यग्दृष्टि बतलाते हैं वे श्री जिनेन्द्र देव के आगम के श्रद्धानी नहीं हैं। तथा जो लोग ऐसे नीच पुरुषों के हाथ का भोजन कर अपने को पंचअणुव्रतधारी बतलाते हैं वे बनावटी जैनी हैं।”

इस अंश की समुद्रयात्रा आदि बातों का मूल में कहीं भी कुछ पता नहीं है। यह अंश बैरिस्टर चम्पतरायजी जैसों को लक्ष्य करके लिखा गया है, जिन्होंने पंचअणुव्रत धारण किये थे और जो समुद्रयात्रा कर विलायत जाते हैं!! मूल के नाम पर कितना बेहूदा और नीच यह आक्रमण है!!!

इसके बाद भोजनपानादि सम्बन्धी कार्यों के लिये शूद्रों को घर पर रखने वाले श्रावकों को श्रावक न बताकर शूद्र समान बताने वाले श्लोक नं० १२४^{४७} का अर्थ थोड़ी-सी गड़बड़ को लिए हुए देकर अगले पूरे एक पेज पर उसका ‘भावार्थ’ दिया है और उसमें बहुत-सी गड़बड़ मचाई गई है-जैन सिद्धान्त के विरुद्ध मुनियों को भोजनपान के समय सातवां गुणस्थान बतलाया है! शूद्रों के हाथ का भोजन करने वालों को ‘जैनधर्म से रहित’ करार दिया है, जबकि खुद शूद्र लोग व्रतों का पालन और क्षुल्लकादि पद को धारण कर उत्तम धर्मात्मा बनते हैं!! और मुसलमान, भंगी, चमार तथा म्लेच्छादि को जैनी बनाकर उनके साथ भोजन तथा विवाह करने वालों को जैन मत की आज्ञा से पराङ्मुख बतलाया है और इस विधान के द्वारा उन जैन चक्रवर्ती राजाओं को, जिनमें तीर्थंकर भी शामिल हैं, तथा वसुदेव जी और सम्राट् चन्द्रगुप्त जैसो को जैनधर्म से बहिर्भूत ठहराया है, जिन्होंने म्लेच्छ कन्याओं से विवाह किये थे!!!

(५) पृष्ठ ३७ पर दिया हुआ एक श्लोक इस प्रकार है-

शूद्रश्रावकभेदो हि दृश्यते व्रतपालनात्।

शूद्रोऽपि श्रावको ज्ञेयो निर्व्रतः सोऽपि तत्समः॥१३६॥

इसका खुला अर्थ यह है कि “शूद्र और श्रावक का भेद व्रतपालन से स्पष्ट होता है। व्रतों का

४७. यह श्लोक पिछले लेख में ‘शूद्र जलादि के त्याग का अजीब विधान’ इस उपशीर्षक के नीचे दिया गया है और वहीं पर इसके मूलविषय का विचार किया गया है।

पालन करता हुआ शूद्र भी श्रावक है और व्रतरहित श्रावक को भी शूद्र समान समझना चाहिए।”

इस सीधे-साधे और स्पष्ट अर्थ को भी अपने मायाजाल के भीतर छिपाकर लोगों की आंखों में धूल डालने का अनुवादक महाशय ने कैसा जघन्य प्रयत्न किया है वह उनके निम्न अनुवाद (अर्थ) पर से सहज ही में समझा जा सकता है।

अर्थ—“शूद्र और श्रावक में यदि भेद है तो इतना ही है कि शूद्र के सोलह संस्कार के अभाव से व्रतों का पालन-भोजनपान आदि धार्मिक क्रियाओं का पालन नहीं होता है और श्रावकों में होता है। जो श्रावक अपने भोजनपान आदि धार्मिक व्रत क्रियाओं को भूल जावे- नहीं करे तो वह शूद्र के समान ही है॥१३६॥”

इसमें शूद्र के सोलह संस्कार के अभाव आदि की बात को अनुवादक जी ने बिल्कुल अपनी तरफ से जोड़ा है और ‘व्रतपालनात् शूद्रोऽपि श्रावको ज्ञेयो’ इन शब्दों के आशय को आप बिल्कुल ही उड़ा गये हैं!! अपने इस अर्थ के द्वारा आप यह प्रतिपादन करना चाहते हैं कि शूद्र व्रती नहीं हो सकता! परन्तु यह जैन शास्त्रों की आज्ञा और शिक्षा के बिल्कुल विरुद्ध है-जैन शास्त्र शूद्रों के श्रावकीय व्रतपालन के उदाहरणों से भरे पड़े हैं और उनमें शूद्रों के लिये क्षुल्लकादि रूप से उत्कृष्ट श्रावक होने का ही विधान नहीं है बल्कि सोमदेवसूरि के निम्न वाक्यानुसार मुनिदीक्षा तक का विधान पाया जाता है-

दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चतुर्थश्च विधोचितः।

मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः॥ -यशस्तिलक

इसके सिवाय सागारधर्मावृत में भी ‘शूद्रोऽप्युपस्कराचार वपुः शुद्ध्याऽस्तु तादृशः’ इत्यादि वाक्य के द्वारा शूद्रों को ब्राह्मणादि की तरह धार्मिक क्रियाओं का पूरा अधिकार दिया गया है और उक्त वाक्य की निम्न प्रस्तावना में उनके आहारादि की शुद्धि का भी स्पष्ट विधान किया गया है-

“अथ शूद्रस्याप्याहारशुद्धिमतो ब्राह्मणादिवद् धर्मक्रियाकारित्वं यथोचितमनुमन्यमानः प्राह-”

फिर ब्रह्मचारी जी अथवा क्षुल्लक जी महाराज का यह कहना कैसे ठीक हो सकता है कि “शूद्र के व्रतों का पालन भोजनपान आदि धार्मिक क्रियाओं का पालन नहीं होता है”? उन्होंने तो स्वयं पृष्ठ ३८० पर लिखा है कि “नगर के समस्त नर नारी गण ने इस कर्मदहन व्रत को यथोक्त विधि से धारण किया।” नगर के समस्त नर नारी गण में शूद्र भी आ गये। जब शूद्रों ने यथोक्त विधि से कर्मदहन व्रत का पालन किया तब फिर व्रतों के पालन और भोजनशुद्धि की वह बात ही कौन सी रह जाती है, जिसका अनुष्ठान शूद्र न कर सकता हो! सत् शूद्र तो मुनियों को आहार तक दे सकता है और खुद मुनि भी हो सकता है।^{४८}

४८. प्रवचनसार की जयसेनाचार्यकृत टीका में सत्शूद्र के जिनदीक्षा लेने का विधान इस तरह से किया गया है-“एवं गुणविशिष्ट पुरुषो जिनदीक्षाग्रहणे योग्यो भवति। यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि।”

खुद ग्रन्थकार ने तो उक्त श्लोक के अनन्तर ही यहाँ तक लिखा है कि जैनधर्म को पालन करता हुआ श्वपच (चाण्डाल) भी श्रावकोत्तम (क्षुल्लक आदि) माना गया है, कुत्ता भी व्रत के योग से देवता हो जाता है तथा एक कीड़ा भी लेशमात्र व्रत के प्रसाद से उत्तम गति को प्राप्त होता है, और एक दूसरे स्थान पर मातङ्गादिक के कर्मदहन व्रत के अनुष्ठान से सुख पाने का उल्लेख किया है^{४९} तब क्या क्षुल्लक जी के न्यायालय में शूद्र की पोजीशन श्वपच, मातङ्ग, कुत्ते और कीड़े से भी गई बीती है जो ये सब तो व्रत का पालन कर सकें, परन्तु शूद्र न कर सकें? शूद्रों के प्रति घृणा और द्वेष की भी हद हो गई!! खेद है कि ग्रन्थकार ने तो शूद्रों के साथ इतना ही अन्याय किया था कि उनके व्रती एवं शुद्धाचरणी होने पर भी उनके हाथ के भोजनपान को निषिद्ध ठहराया था, परन्तु अनुवादक जी ने चार कदम आगे बढ़कर मिथ्या और विपरीत अनुवाद के द्वारा उनके व्रतपालन अथवा धार्मिक क्रियापालन के अधिकार को ही हड़पना चाहा है!! इस मायाचारी और कपटकला का भी कुछ ठिकाना है!! ऐसे ही प्रपञ्चमय अनुवादों के कारण मैंने इस ग्रन्थ को “एक तो करेला और दूसरे नीम चढ़ा” की कहावत को चरितार्थ करने वाला बतलाया है।

अनुवादक जी की नसों में जातिभेद और जातिमद का कुछ ऐसा विषम विष समाया है कि एक स्थान पर तो (पृष्ठ ६ के फुटनोट) वे यहाँ तक लिख गये हैं कि “जाति, कुल अनादिनिधन हैं, और उनका सम्बन्ध नीच ऊँच गोत्र से है। ऐसा नहीं है कि जिसका रोजगार (धन्धा) ऊँचा वह ऊँच और जिसका धन्धा नीचा वह नीच हो।” और इसके द्वारा वे अनजान में अथवा मूर्छित अवस्था में यह सुझा गये हैं कि एक वैश्यादि ऊँच जाति का जैनी यदि भंगी, चमार, खटीक, चाण्डाल अथवा कसाई का भी धन्धा करने लगे तो भी वह ऊँच ही रहेगा नीच नहीं होने पायेगा। और एक सत्शूद्र जैनी बारह व्रतों का उत्तम रीति से पालन करता हुआ तथा क्षुल्लक के पद पर विराजमान होता हुआ भी ‘अपने शरीर की स्थितिपर्यन्त’ नीच ही रहेगा ऊँच नहीं हो सकेगा!! धन्य है आपके इस ऊँच नीच के सिद्धान्त को!!! जैनाचार्यों ने तो—

“चातुर्वर्ण्यं तथान्यच्च चाण्डालादिविशेषणं।

सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धं भुवने गतम्”॥

“अनार्यमाचरन् किञ्चिज्जायते नीचगोचरः”। -पद्मचरिते, रविषेणः।

“आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम्।

न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता कापि तात्त्विकी”॥

“गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते”॥ -धर्मपरीक्षायां, अमितगतिः।

“वृत्तिभेदा हि तद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते”॥ -आदिपुराणे, जिनसेनः।

इत्यादि वाक्यों के द्वारा आचारभेद, गुणभेद अथवा वृत्ति (धंधा) भेद के कारण जाति भेद को

४९. इन कथनों के सूचक वाक्य ‘कर्मसिद्धान्त की नई ईजाद’ नामक उपशीर्षक के नीचे उद्धृत किये जा चुके हैं।

कल्पित माना है और नीच उसे बतलाया है जिसका आचरण अनार्य हो। और स्वामी समन्तभद्र ने तो “यो लोके त्वा नतः सोऽतिहीनोऽप्यति गुरुर्यतः” इत्यादि वाक्य के द्वारा यह सूचित और घोषित किया है कि ‘नीच से नीच कहा जाने वाला मनुष्य भी जैनधर्म को धारण करके इसी लोक में अति उच्च बन सकता है^{५०}। तब अनुवादक जी जाति और कुल की अनादिनिधनता के स्वप्न देख रहे हैं! और शूद्रमात्र का घोर तिरस्कार कर रहे हैं!! इससे पाठक समझ सकते हैं कि जैनाचार्यों के वाक्यों की अवहेलना करते हुए जैनधर्म के दायरे से कितने अधिक बाहर जा रहे हैं!!!

(६) पृष्ठ ३७७ पर एक श्लोक निम्न प्रकार से दिया है, जिसके मूलार्थ का विचार ‘कर्म सिद्धान्त की नई ईजाद’ नामक उपशीर्ष नीचे किया जा चुका है—

म्लेच्छोत्पन्ना नरा नार्यः मृत्वा हि मगधेश्वर।

भवन्ति व्रतहीनाश्च इमे वामाश्च मानवाः॥१७५॥

इसमें साफ तौर पर यह कहा गया है कि “हे मगधेश्वर! म्लेच्छों से उत्पन्न हुए स्त्री पुरुष मरकर निश्चय से व्रतहीन मनुष्य स्त्री पुरुष होते हैं”। इस सीधे सादे स्पष्ट अर्थ के विरुद्ध अनुवादक जी ने जो अद्भुत लीला रची है और जो प्रपंचमय अर्थ किया है, अब उसे भी देखिये! वह इस प्रकार है—

“अर्थ—जिनके यहाँ पुनर्विवाहादि मलिन आचरण है, जिनको उत्तम व्रत धारण करने की योग्यता ही नहीं प्राप्त होती है, उनको म्लेच्छ व शूद्र कहते हैं। शूद्रों को शीलव्रत किसी तरह भी पालन नहीं हो सकता है। क्योंकि उनके यहाँ उनकी जाति में पुनर्विवाह होता है। पुनर्विवाह व्यभिचार है। व्यभिचार करने वालों के शीलव्रत हो ही नहीं सकता है। शीलव्रत के अभाव से अन्य व्रतों का पालन भी परिपूर्ण नहीं होता है। अतएव ऐसे जीव मरकर व्रतविहीन होते हैं।”

पाठकजन! देखा, कितना मूलबाह्य यह सब अर्थ है! और कैसी निरंकुशता से काम लिया गया है!! इस सारे अर्थ में “मरकर व्रतविहीन होते हैं” इन अन्तिम शब्दों के सिवाय और कोई भी बात मूल के शब्दों से सम्बन्ध नहीं रखती!!! और इसलिये उसे अनुवादक जी के विचित्र अथवा विकृत मस्तिष्क की ही एक उपज कहना चाहिए! उन्हें इतनी भी समझ नहीं पड़ी कि लोग मेरे इस साक्षात् झूठ पर कितना हंसेंगे और मेरे इस ब्रह्मचारी वेष तथा सत्यव्रत का कितना मखौल उड़ायेगें! क्या मस्तिष्क-विकार के कारण उन्होंने यह समझ लिया था कि मेरे इस अनुवाद को कोई संस्कृत जानने वाला पढ़ेगा ही नहीं? परन्तु संस्कृत जानने वाले को छोड़िये, साधारण हिन्दी जानने वाला भी यदि मूल के साथ इस अर्थ को पढ़े तो वह इतना तो समझ सकता है कि मूल में पुनर्विवाह, शूद्र, शीलव्रत और व्यभिचार जैसी बातों का कोई उल्लेख नहीं है उसका नाम, निशान और पता तक भी नहीं है। धन्य है आप के इस अद्भुत साहस को! ‘चे मर्दाना अस्त दुजदे कि बकफ़ चिराग़ दारद^{५१}!!’

५०. विशेष जानने के लिये देखो, ‘अनेकान्त’ किरण १ ली, २ री पृष्ठ ११, १२ तथा ११५ आदि

५१. क्या ही मर्दाना चोर है कि हाथ में चिराग़ लिये हुए है!!

इस अर्थ तथा पिछले नम्बर में दिये हुए अर्थ पर से शूद्रों के प्रति अनुवादक जी की चित्तवृत्ति का अच्छा खासा परिचय मिल जाता है और यह मालूम हो जाता है कि वे किस तरह की खींचातानी करके और कपटजाल रचकर अपने विचारों को जनता के ऊपर लादना चाहते हैं। परन्तु जो लोग जैन शास्त्रों का थोड़ा-सा भी बोध रखते हैं वे म्लेच्छ और शूद्र के भेद को खूब समझते हैं, शूद्र को आर्य जानते हैं—म्लेच्छोत्पन्न नहीं और दोनों को ही श्रावक के बारह व्रतों के पालन का अधिकारी मानते हैं। उनके गले यह बात नहीं उतर सकती कि शूद्र बारह व्रतों का पालन करता हुआ भी शीलव्रत का पालन नहीं कर सकता—वह तो उन्हीं व्रतों में एक व्रत है। और न यही गले उतर सकती है कि व्यभिचार करने वाला कभी शीलव्रती हो ही नहीं सकता। चारुदत्तादि कितने ही महाव्यभिचारियों का तो पीछे से इतना सुधार हुआ है और वे इतने पूरे ब्रह्मचारी एवं धर्मात्मा बने हैं कि बड़े बड़े आचार्यों को भी उनकी प्रशंसा में अपनी लेखनी को मुक्त करना पड़ा है। फिर भी यहाँ अनुवादक जी की आँखें खोलने के लिये दो ऐसे स्पष्ट प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं जिनमें पूजक के दो भेदों में से आद्यभेद नित्यपूजक का स्वरूप बतलाते हुए और उसमें शूद्र का भी समावेश करते हुए शूद्र को भी ‘शीलवान्’ तथा ‘शीलव्रतान्वित’ होना लिखा है बाकी दृढव्रती, दृढाचारी और शोचसमन्वित होने की बात अलग रही—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाऽद्यः सुशीलवान्।
दृढव्रतो दृढाचारः सत्यशौचसमन्वितः॥१७॥
—पूजासार।

ब्राह्मणादिचतुर्वर्ण्य आद्यः शीलव्रतान्वितः।
सत्यशौचदृढाचारो हिंसाद्यव्रतदूरगः॥१९-१४३॥
—धर्मसंग्रहश्रावकाचार।

यहाँ पर मुझे अनुवादक जी के प्रतिपाद्य विषय की कोई विशेष आलोचना करना इष्ट नहीं है। उनकी निरंकुशता और उसके द्वारा घटित अनर्थ का ही कुछ दिग्दर्शन कराना है। इसलिये इस विषय में अधिक कुछ लिखना नहीं चाहता। हाँ, इतना जरूर कहना चाहता हूँ कि अनुवादक जी ने यह लिखकर कि जिनकी जाति में पुनर्विवाह होता है, उनके शीलव्रत का किसी तरह भी पालन नहीं हो सकता, एक बड़ा ही अनर्थ घटित किया है, और वह यह कि इससे उन्होंने अपने गुरु आचार्य शांतिसागर जी के ब्रह्मचर्य को भी सशंकित बना दिया है, क्योंकि उनकी जाति में विधवा विवाह होता है। तब शिष्य की दृष्टि में आचार्य महाराज शीलव्रती भी नहीं ठहर सकते!! पूर्णब्रह्मचारी होने को तो बात ही दूर है!!! वाह! शिष्य की यह कैसी विचित्र लीला है जिस पर आचार्य महाराज मुग्ध हैं!!!

(७) तेरहपंथियों से झड़प के समय भगवान् के मुख से एक वाक्य निम्न प्रकार कहलाया गया है, जिसमें लिखा है कि ‘हे मगधेश्वर! ग्रन्थों का लोप करने के पाप से वे सब श्रावक निश्चय ही नरक में जायेंगे।

**ग्रन्थलोपजपापेन ते च श्राद्धानिकाः खलु।
नरकावनौ च यास्यन्ति सर्वे हि मगधेश्वर॥६८३॥**

इस वाक्य के द्वारा शुद्धाम्नाय के संरक्षकों एवं तेरहपन्थ के प्रसिद्ध विद्वान् पं० टोडरमल जी आदि के विरुद्ध (जिन्होंने भट्टारकीय साहित्य के कुछ दूषित ग्रन्थों को अप्रमाण ठहराया था) नरक का फतवा निकालकर अथवा उन ग्रन्थों को न मानने वाले सभी तेरह-पंथियों के नाम नरक का फर्मान जारी करके ग्रन्थकार ने अपने संतप्त हृदय का बुखार निकाला था। अन्यथा, किसी ग्रन्थ को सदोष जानकर उसके मानने से इन्कार करने में नरक का क्या सम्बन्ध? नरकायु के आस्रव का कारण तो बहुआरम्भ और बहुपरिग्रह को बतलाया गया है। परन्तु अनुवादक जी को उन्हें केवल नरक भेजना काफ़ी मालूम नहीं दिया और इसलिये उन्होंने अर्थ देते हुए उसके साथ में उनके निगोद जाने की बात और जोड़ दी है! और फिर इतने पर से भी तृप्त न होकर इस पर जो मगजी चढ़ाई है-इसके 'ग्रन्थलोपजपापेन' पद पर जो नोट रूप गोट लगाई है, वह इस प्रकार है-

“ग्रन्थों को असत्य ठहराना माने ग्रन्थों का लोप करना है। इसके समान संसार में अन्य पाप नहीं हैं। आगम की सत्यता व प्रामाणिकता सर्वज्ञ प्रभु की सत्यता पर निर्भर है। सर्वज्ञ प्रभु वीतराग, त्रिकाल में उनकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है। जो मनुष्य सर्वज्ञ के वचनों में अपनी दुष्ट बुद्धि की कल्पना से असत्यता प्रकट कर प्रामाणिकता नष्ट करे तो वह आगम का या ग्रन्थ का लोपी है। उसके न तो आगम की श्रद्धा है और न सर्वज्ञ प्रभु की। ऐसी अवस्था में वह अपनी इंद्रियजनित बुद्धि को ही कुत्सित तर्क और अनुमानजनित विचार से स्थिर रखकर शास्त्रों की मिथ्या आलोचना कर पाप का भागी बनता है। कितने ही ढोंगी-जिनधर्म की श्रद्धा से रहित जैन सुधारक-मिथ्यात्व के उदय से शास्त्र और गुरुओं की मिथ्या समालोचना करते हैं, सत्य शास्त्रों में अवर्णवाद लगाकर सर्वज्ञ प्रभु के आगम को असत्य ठहराना चाहते हैं। उनको संस्कृत प्राकृत का ज्ञान नहीं है, आगम का श्रद्धान नहीं है। अपने आप श्रावक बनकर ब्रह्मदत्त के समान प्रत्यक्ष में पतित होते हैं।”

पाठकजन! देखा, ग्रन्थसामान्य अथवा ग्रन्थमात्र को आगम के साथ और सर्वज्ञ के साथ जोड़कर अनुवादक महाशय ने यह कैसा गोलमाल करना चाहा है, कैसा मायाजाल रचा है और उसमें भोले भाइयों को फंसाकर उन्हें अंधश्रद्धालु बनाने का कैसा जघन्य यत्न किया है! क्या त्रिवर्णाचारों जैसे ग्रन्थ, भद्रबाहुसंहिता जैसे ग्रन्थ, उमास्वामि-श्रावकाचार जैसे ग्रन्थ, चर्चासागर जैसे ग्रन्थ और सूर्यप्रकाश जैसे ग्रन्थ आगम ग्रन्थ हैं? सर्वज्ञ भगवान् के कहे हुए हैं? यदि नहीं, तो फिर ऐसे ग्रन्थों की आलोचना से और उसके अप्रामाणिक ठहराये जाने से विचलित होने की क्या जरूरत है? क्या खास सर्वज्ञ की मुहर लगे हुए कोई ग्रन्थ हैं, जिनकी परीक्षा अथवा आलोचना न होनी चाहिए? यदि नहीं-प्रत्युत इसके ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं कि 'भ्रष्टचारित्र पंडितों और वठरसाधुओं ने (धूर्त मुनियों

ने) निर्मल जैन शासन को मलिन कर दिया है^{५२} तो फिर जिज्ञासु सत्पुरुषों के लिये परीक्षा के सिवाय और दूसरा चारा (उपाय) ही क्या हो सकता है? अथवा क्या ऐसी नकली मुहर भी सर्वज्ञ की मुहर होती है जैसी कि इस सूर्यप्रकाश पर लगाई गई है? और सर्वज्ञ ने कहा ही कब है कि मेरे वचनों की जांच अथवा परीक्षा न की जाये? सर्वज्ञों का शासन कोई अन्धश्रद्धा का शासन नहीं होता। उसमें तो परीक्षकों के लिये खुला चैलेन्ज रहता है कि वे आएँ और परीक्षा करें। इसी में उनका और शासन का महत्त्व है। समन्तभद्र जैसे महान् आचार्यों ने तो खुद सर्वज्ञ की भी परीक्षा की है, फिर उनके नाम की मुहर लगे ग्रन्थों की तो बात ही क्या है ? परीक्षा और समालोचना का मार्ग सनातन से चला आया है। जिस समय दिगम्बर और श्वेताम्बर संघ भेद हुआ था, उस समय दिगम्बर महर्षियों ने श्वेताम्बराचार्यों द्वारा संकलित आगम ग्रन्थों को अप्रामाणिक और अमान्य ठहराया था। इस अप्रामाणिकता और अमान्यता के द्वारा उन्होंने जो आगम ग्रन्थों के लोप का प्रयत्न किया तो क्या इससे वे महर्षिगण नरक निगोद के पात्र हो गये? और उन ग्रन्थों को अमान्य करार देने वाला सारा दिगम्बर समाज भी क्या नरक निगोद में पड़ेगा? इस पर भी अनुवादक जी ने कुछ विचार किया है या यों ही अनाप-सनाप लिख गये? इसके सिवाय, इसी ग्रन्थ में तेरहपन्थियों के ग्रन्थों के विरुद्ध कितना ही जहर उगला गया है—उनमें जो पञ्चामृत अभिषेक आदि का निषेध किया गया है, उसकी असभ्यातापूर्ण कड़ी आलोचना की गई है और इस तरह उन ग्रन्थों के लोप का प्रयत्न किया है, तब क्या अनुवादक जी इस ग्रन्थलोपज पाप के कारण ग्रन्थकार को और खुद अपने को भी नरक निगोद भेजने के लिए तैयार हैं? यदि नहीं, तो फिर इस व्यर्थ के शब्दजाल से क्या नतीजा है?

क्या असत्य ग्रन्थों को असत्य ठहराने में भी कोई पाप है? झूठ, जाली, मिथ्यात्वपूरित एवं धूर्तों के रचे हुए विषमिश्रित भोजन के समान धर्मप्राणों का हरण करने वाले इन त्रिवर्णाचारादि जैसे अहितकारी ग्रन्थों का तो जितना भी शीघ्र लोप हो जाये उतना ही अच्छा है। जैन साहित्य के कलंक रूप ऐसे ग्रन्थों का वास्तविक स्वरूप प्रकट करके उनके लोप में जो कोई भी मदद करता है वह तो जैनशासन की, जैनागम की, जैनाचार्यों की अथवा यों कहिये कि सत्यार्थ आप्त-आगम-गुरुओं की सच्ची सेवा करता है। सत्य के लिए आलोचना और परीक्षा की कोई चिन्ता नहीं होती। जिसके पास शुद्ध और खालिस सुवर्ण है वह इस बात से कभी नहीं घबराता कि उसके सुवर्ण को कोई घिसकर, छेदकर अथवा तपाकर देखता है। प्रत्युत इसके, जिसके पास खोटा माल है अथवा जाली सिक्का है वह सदा उसके विषय में सशक्त रहता है और कभी उसे खुली परीक्षा के लिए देना नहीं चाहता। यही वजह है जो प्राचीन एवं महान् आचार्यों ने कभी परीक्षा का विरोध नहीं किया, वे बराबर डंके की चोट यही कहते रहे कि खूब अच्छी तरह से परीक्षा करके धर्म को ग्रहण करो, अन्धश्रद्धालु मत बनो, क्योंकि उन्हें अपने धर्मसिद्धान्तों की असलियत एवं सत्यता पर पूरा विश्वास था और वे समझते

५२. पंडितैर्भ्रष्टचारित्रैः वठरैश्चतपोधनैः।

शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्॥

थे कि जो बात परीक्षापूर्वक ग्रहण की जाती है उसमें दृढ़ता एवं स्थिरता आती है और उसके द्वारा विशेषरूप से कल्याण सध सकता है।

परन्तु भ्रष्ट एवं शिथिलाचारी भट्टारकों और उनके पंडे-पोपों अथवा अनुयायियों ने चूँकि अपने लौकिक स्वार्थों की सिद्धि के लिये ग्रन्थों में बहुत कुछ मिलावट की है और अपने जाली सिक्कों को तीर्थंकरों तथा प्राचीन ऋषियों के नाम से चलाना चाहा है, इसलिये “पापाः सर्वत्र शंकिताः” की नीति के अनुसार उन्हें बराबर इस बात की चिन्ता और भय रहा है कि कहीं उनका यह कपट प्रबन्ध किसी पर खुल न जाये, और इसी से वे अनेक प्रकार के उपदेशों आदि द्वारा ऐसी रोकथाम करते आये हैं, जिससे लोग तुलनात्मक पद्धति से अध्ययन कर ग्रन्थों की परीक्षा में प्रवृत्त न हों, उन पर कुछ आपत्ति न करें और जो कुछ उनमें लिख दिया गया है उसे बिना ‘चूँ चरा’ किये अथवा कान हिलाए चुपचाप मान लिया करें! और शायद यही वजह थी जो वे आमतौर पर गृहस्थों को ग्रन्थ पढ़ने के लिये प्रायः नहीं देते थे, उन्हें पढ़ने का अधिकारी नहीं बतलाते थे और खुद ही अपनी इच्छानुसार उन्हें ग्रन्थों की कुछ बातें सुनाया करते थे। यह सब तेरहपंथ के उदय का ही माहात्म्य है जो सबके लिये ग्रन्थों का मिलना इतना सुलभ हो गया है। इस ग्रन्थ में भी भट्टारक गुरुओं (जिनात्तपुरुषों) के मुख से ग्रन्थों के सुनने की प्रेरणा की गई है, जिसकी सीमा को बढ़ाते हुए अनुवादक जी ने यहाँ तक लिख दिया है कि “ग्रन्थों का स्वाध्याय गुरुमुख से ही श्रवण करना चाहिए!!” और उक्त श्लोक नं० ६८३ से ११ श्लोक आगे ही सम्यग्दर्शन का विचित्र लक्षण वाला वह श्लोक भी दिया है, जिसमें ग्रन्थकारों ने ग्रन्थों में जो कुछ लिख दिया है उसी के मानने को सम्यग्दर्शन बतलाया है! और जिसकी आलोचना ‘कुछ विलक्षण और विरुद्ध बातें’ नामक प्रकरण में नं० ६ पर की जा चुकी हैं।

खुद अनुवादक जी ने जानबूझ कर इस ग्रन्थ के अनुवाद में बहुत कुछ अर्थ का अनर्थ किया है और कितनी ही झूठी तथा निःसार बातें अपनी तरफ से मिलाई हैं, जैसा कि अब तक की और आगे की भी आलोचनाओं से प्रकट है। फिर वे इस बात को कैसे पसन्द कर सकते हैं कि कोई इस ग्रन्थ की समालोचना करे और उनके दोषों को दिखलाए। इन सब बातों को लेकर ही वे समालोचना के विरोधी बने हुए हैं! अपने उन वर्तमान गुरुओं की मानमर्यादा का भी उन्हें खयाल है, जिन्हें वे अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन बनाये हुए हैं- उनकी समालोचना को भी वे नहीं चाहते। इसीलिये ग्रन्थों की समालोचना के प्रसंग पर गुरुओं की समालोचना को भी उन्होंने साथ में जोड़ दिया है। चूँकि इन दोनों की समालोचना का भय उन्हें सुधारकों की तरफ से ही है, इसी से वे सुधारकों के विरुद्ध उधार खाये बैठे हैं और उन्होंने सुधारकों को “ढोंगी, जिनधर्म की श्रद्धा से रहित” आदि कहकर उनके विरुद्ध कितनी ही बेतुकी बातें लिख डाली हैं! अन्यथा, उनके इस लिखने में कुछ भी सार नहीं है। और उनका यह सारा नोट बिल्कुल नासमझी, अविचार, द्वेषभाव और अनुचित पक्षपात को लिये हुए है।

(८) पृष्ठ १७१ पर एक श्लोक निम्न अर्थ के साथ दिया है-

दिव्यध्वनिमयी वाणी वीतरागमुखोद्भवा ।
साप्यस्मिन्नास्ति भो भव्याः सर्वद्वारखण्डका॥१०९॥

“अर्थ-साक्षात् तीर्थङ्कर केवली का अभाव होने से साक्षात् दिव्यध्वनि का भी अभाव है जिससे सर्व सन्देह दूर होता था। परन्तु पंचमकाल में जिनागम ग्रन्थों में वह दिव्यध्वनि आचार्यों की परम्परा से ग्रथित की है। जिनागम ग्रन्थों में केवली भगवान् को दिव्यध्वनि के सिवाय एक अक्षरमात्र भी स्वकल्पित नहीं है। न राग-द्वेष या प्रतिष्ठा कीर्ति आदि के गौरव से वीतराग योगियों ने उस दिव्यध्वनि में व्यतिक्रम किया है। इसलिए परमागम के शास्त्र सब दिव्यध्वनि रूप ही हैं। जो प्रामाणिकता-सत्यता और निर्दोषता दिव्यध्वनि की है वही प्रामाणिकता-सत्यता-निर्दोषता और अबाधता ग्रन्थों की है।”

इस अर्थ में पहला वाक्य तो मूल के अधिकांश आशय को लिये हुए है, बाकी ‘परन्तु’ से प्रारम्भ होकर अन्त तक का सारा अर्थ मूल के साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं रखता-वह सब अनुवादक जी के द्वारा कल्पित किया और बढ़ाया गया है! इस बढ़े हुए अंश के द्वारा भी अनुवादक जी ने भोले भक्तों को फंसाने के लिये वही मायाजाल रचा है जिसका उल्लेख पिछले नम्बर (७) में किया जा चुका है। आप इसके द्वारा भोले भाइयों को जिनागम परमागम के भुलावे में डालकर और अंत को जैन कहे जाने वाले सब ग्रन्थों को एक आसन पर बिठलाकर उनके हृदयों पर यह सिक्का जमाना चाहते हैं कि भट्टारकीय साहित्य के इन त्रिवर्णाचारों तथा सूर्यप्रकाश जैसे ग्रन्थों में जो कुछ लिखा हुआ है वह सब भगवान् की दिव्यध्वनि में ही प्रकट हुआ है-एक अक्षर भी उससे बाहर का नहीं है, और इसलिए इन ग्रन्थों की सब बातों को मानना चाहिए। पाठकजन! देखा, अनुवादक जी का यह कितना असत्साहस, खोटा अभिप्राय तथा छलपूर्ण व्यवहार है और इसके द्वारा वे कैसी ठगविद्या चलाना चाहते हैं! और इस ग्रन्थ में, जिसे खुद अनुवादक जी ने ‘ग्रन्थराज’ (पृष्ठ ४०३) तथा ‘जिनागम स्वरूप’ (४०८) लिखा है और ऐसी जिनवाणी प्रकट किया है जो भगवान् महावीर के समय से अब तक “वैसी ही अविच्छिन्न धाराप्रवाह-रूप चली आई है” (४०३), भगवान् महावीर और उनकी वाणी की कैसी मिट्टी खराब की गई है, यह बात अब पाठकों से छिपी नहीं रही और इसलिये वे अनुवादक जी के उक्त शब्दों का मूल्य भले प्रकार समझ सकते हैं और उनकी लीला को अच्छी तरह पहचान सकते हैं। इस विषय के विशेष अनुभव के लिये उन्हें ‘ग्रन्थपरीक्षा’ के तीनों भाग और ‘जैनाचार्यों का शासन-भेद’ नाम की पुस्तक को भी देखा जाना चाहिए। फिर उनके सामने अनुवादकजी जैसों का ऐसा मायाकोट क्षणभर भी खड़ा नहीं रह सकेगा।

(९) पृष्ठ १३७, १३८ पर जैनधर्म का महत्त्व गिर जाने और उसकी न्यूनता का कारण बतलाते हुए तीन श्लोक निम्न प्रकार से दिये हैं-

ह्यस्त्यनन्तश्च संसारे पक्षः स्यात् यस्य दृश्यते ।
महात्वं च तस्यैव तद्भ्रते अमहत्त्वता॥६३८॥

मित्रकाले च तस्यैव पालका धारका नृपाः।

प्रजाः सर्वा द्विजाः सर्वे अतः सर्वेषु भो बुधाः॥६३९॥

उत्तमता च ह्यस्यैव अन्यस्य न्यूनता खलु।

तद् ऋते ननु विज्ञेयं विपरीतस्य कारणम्॥६४०॥

इनमें सिर्फ इतना ही कहा गया है कि- “संसार में जिस धर्म का पक्ष अनन्त है-बहुत अधिक जनता जिसके पक्ष में होती है-उसी का महत्त्व दिखलाई पड़ता है। प्रत्युत इसके-अधिक जनता पक्ष में न होने पर-महत्त्व गिर जाता है। चतुर्थकाल में इसी जैनधर्म के पालक धारक राजा थे, सारी प्रजा थी और सारे द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) थे, इसीलिये हे बुधजनों! सब धर्मों में इसी की उत्तमता थी-दूसरों की न्यूनता थी। उन सब राजा, प्रजा और द्विजों का जैन न रहना ही इस धर्म की न्यूनता का कारण है।”

इस सीधे सादे स्पष्ट अर्थ के विरुद्ध अनुवादक जी ने जो अर्थ दिया है, वह इस प्रकार है-

अर्थ-“हे राजन्, कलिकाल में इस संसार में जिसके पक्ष में बहुत-सी संख्या है वह अपना बल प्रकट करेगा, उसका महत्त्व प्रकट होगा। और जिनके पक्ष में संख्या स्वल्प है वे सर्वांग शक्तिशाली होने पर भी अपना महत्त्व प्रकट नहीं कर सकेंगे। अपना जैनधर्म यद्यपि संसार में सर्वोत्कृष्ट है, सर्वोत्तम है, पवित्र है, सदाचार से परिपूर्ण है, परन्तु राजाओं का पक्ष न रहने से कमजोर हो गया है। इसी प्रकार मुनिवर्ग का पक्ष जब से कम होने लगा है, तब से उसका महत्त्व छुपता जाता है। इसलिये जो लोग धर्म का महत्त्व प्रकट करना चाहते हैं उनको धर्मगुरुओं की आज्ञा शिरोधार्य कर धर्म के रहस्य जानने वाले सच्चे विद्वान् त्यागियों के पक्ष में रहकर अपने धर्म की रक्षा और वृद्धि करनी चाहिए। जो सुधारक मुनिगण और विद्वानों की सत्य और आगमोचित पक्ष को छोड़कर धर्म के बहाने अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं और धर्म की पवित्रता, विधवा-विवाह, जाति-पांति-लोप और विजातीय-विवाह आदि धर्म विरुद्ध कारणों से नष्ट करना चाहते हैं उनको विचार करना चाहिए कि इस प्रकार पक्षभेद करने से धर्म का सत्यानाश ही होगा, समुन्नति नहीं॥६३८॥”

-“चतुर्थकाल में इस जैनधर्म के प्रतिपालक राजा और ब्राह्मणादि सभी प्राणी थे। इसलिये इसका डंका सर्वत्र अविच्छिन्न रूप से बजता था॥६३९॥”

-“यह धर्म सर्वोत्कृष्ट है। त्रिलोक-पूजित है। और सर्वमान्य है। और धर्म इस (जैनधर्म) से सब बातों में अधम हैं। परन्तु जैनधर्म का पक्ष मुनियों के सदुपदेश के बिना समस्त जीवों को मिलना कठिन है। इसलिये इस जैनधर्म के पालन करने वालों की संख्या कम हो गई है। इसलिये मुनिधर्म और सच्चे आगम के जानकार विद्वानों की पक्ष को एकदम मजबूत बना देना चाहिए जिससे धर्म की विपरीतता नष्ट हो जाये।”

यह सब अर्थ (अनुवाद) मूल से कितना बाह्य और विपरीत है, उसे बतलाने की जरूरत नहीं! सहृदय पाठक सहज ही में तुलना करके उसे जान सकते हैं। ऐसे अनुवादों को अनुवाद नहीं कहा जा

सकता, ये तो पूर्वोल्लेखित अनुवादों की तरह अनुवादक जी की निरंकुशता के जीते जागते उदाहरण हैं! यहां पर मैं अपने पाठकों को सिर्फ इतना ही बतला देना चाहता हूं कि अनुवादक जी ने जैनियों अथवा पाक्षिक श्रावकों की संख्यावृद्धि की बात को गौण करके तथा राजा, प्रजा और द्विजों को जैनी बनाने की बात को भुलाकर इन श्लोकों के अर्थ के बहाने धर्मगुरुओं (भट्टारक-मुनियों) की आज्ञा को शिरोधार्य करने, उनकी तथा उनके आश्रित अपने जैसे त्यागी विद्वानों की पक्ष में रहने और उस पक्ष को मजबूत बना देने की प्रेरणारूप जो यह अप्रासंगिक तान छेड़ी है और सुधारकों पर बिना बात ही व्यर्थ का आक्रमण किया है वह सब भट्टारकीय मार्ग को निष्कंटक बनाने की उनकी एक मात्र धुन और चिन्ता के सिवाय और कुछ भी नहीं है—वे लुप्तप्राय भट्टारकीय मार्ग को पुनः प्रतिष्ठित कराकर उसे चलाना चाहते हैं! इसी से वे शान्तिसागर जैसे मुनियों के पीछे लगे हैं, उन्हें पक्षापक्षी की दलदल तथा सामाजिक रागद्वेष की कीच में फंसा रहे हैं और उनके सहयोग से इस ‘सूर्यप्रकाश’ जैसे भट्टारकीय साहित्य के ग्रन्थों का प्रचार कर रहे हैं!! फिर बेप्रसंग-बिना प्रसंग (मौके बेमौके)—ऐसी बेहयाई की बातें न करें तो क्या करें?

खेद है कि अपनी धुन में अनुवादक जी यह तो लिख गये कि “मुनिधर्म का पक्ष जब से कम होने लगा तब से उसका महत्त्व छुपता जाता है” परन्तु उन्हें यह समझ नहीं पड़ा कि मुनियों का पक्ष कम क्यों होने लगा! क्या मुनियों का पक्ष कम होने और उनका महत्त्व गिर जाने का उत्तरदायित्व भी गृहस्थों के ऊपर है?—मुनियों के ऊपर नहीं? कदापि नहीं। मुनियों में शिथिलाचार आ जाने और उनका आचरण मुनियों के योग्य न रहने के कारण ही उनका पक्ष एवं महत्त्व गिरा है। “निजैरेव गुणैर्लोके पुरुषो याति पूज्यताम्” की नीति के अनुसार हर एक मनुष्य अपने गुणों के कारण ही लोक में पूजा-प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है और जनता को अपने पक्ष में कर लेता है। एक महात्मा गाँधी ने अपने महान् गुणों के कारण ही संसार को हिला दिया और असंख्य जनता को अपने पक्ष में कर लिया। इससे स्पष्ट है कि मुनियों के पक्ष का गिरना और उनके महत्त्व का लुप्त हो जाना खुद उन्हीं की त्रुटियों तथा दोषों पर अवलम्बित है। ऐसी हालत में अनुवादक जी का, मुनियों को अपनी त्रुटियों तथा दोषों को सुधारने का उपदेश न देकर गृहस्थों को ही उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करने और उनकी पक्ष को मजबूत बनाने का उपदेश देना कहाँ का न्याय है? सिंहवृत्ति के धारक और स्वावलम्बी कहे जाने वाले मुनि तो अकर्मण्य बने रहें और गृहस्थ लोग उनके पक्ष को मजबूत करते फिरें, यह कैसी विडम्बना जान पड़ती है! ऐसी विडम्बना का एक नमूना यह भी देखने में आता है कि मुनि लोग गृहस्थों से ‘आचार्यपद’ लेने लगे हैं!! जान पड़ता है, अनुवादक जी को मुनियों का सुधार इष्ट नहीं है, क्योंकि वे शिथिलाचार को पुष्ट करने वाली भट्टारकी चलाना चाहते हैं और इसीलिये उन्होंने मुनियों को उनकी त्रुटियों तथा दोषों के सुधार का उपदेश नहीं दिया!! इसी तरह की एक बात उन्होंने पृष्ठ १३५ के फुटनोट में भी जोड़ी है—लिखा है कि “कालदोष से अपने धर्मभाई ही मुनियों की निन्दा कर मुनिधर्म के उठाने का प्रयत्न करेंगे। मुनियों में मिथ्या अवर्णवाद लगावेंगे।” मानो मुनिलोग बिल्कुल निर्दोष

होंगे, और यह सब काल का ही दोष होगा जो लोग यों ही उनकी निन्दा करने लगेंगे तथा उनमें दोष लगाने लगेंगे! वाह! कैसी अच्छी वकालत है!! इससे भी अधिक बढ़िया वकालत पृष्ठ ४१ की 'टीप' में की गई है और वह इस प्रकार है—

“वीतराग सर्वथा निरपेक्ष परम पवित्र सर्व प्रकार के दोष से रहित और सब प्रकार की आशा को छोड़कर ज्ञान ध्यान में लीन रहने वाले धर्मगुरु (मुनि-आचार्य-ऐलक-आर्यिका) की ये व्रत और चारित्रविहीन श्रावक निन्दा करेंगे। तथा निर्लज्जता के साथ निन्दा करते हैं। ये लोग स्वयं पापी, सदाचाररहित, कुशिक्षा से विषयों का पोषण करने वाले और क्रियाहीन पापिष्ठ होंगे, सच्चे धर्मात्मा और धर्मगुरु का चारित्र-विचार एवं मन की भावना अत्यन्त पवित्र और उत्तम होगी उसको भी ये लोग सहन नहीं कर सकेंगे।” इत्यादि।

इस प्रकार के अनुचित पक्ष से तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि आप मुनियों का सुधार और उनका उत्थान बिल्कुल नहीं चाहते। यही वजह है कि आप क्षुल्लक महाराज जिस शांतिसागर संघ के मुख्य गणधर बनें हुए हैं उसकी दिनों दिन बड़ उड़ रही है, जगह-जगह निन्दा होती है और यह प्रसिद्ध हो चली है कि जहाँ-जहाँ यह संघ जाता है, वहाँ-वहाँ कलह के बीज बोता है और अनेक प्रकार के झगड़े टंटे कराकर लोगों की शांति भंग करता है! (शायद टीप में वर्णित गुणों का ही यह सब प्रताप हो!!) परन्तु इससे आपको क्या? आपका उल्लू तो बराबर सीधा हो रहा है! मुनियों के सुधार पर फिर यह स्वार्थसिद्धि, निरंकुशता और गणधरी भी कैसे बन सकती है, जिसकी आपको विशेष चिन्ता जान पड़ती है?

यहां पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि अनुवादक जी ने विजातीय विवाह जैसे युक्ति-शास्त्र-सम्मत कार्य को भी 'धर्मविरुद्ध' तथा 'धर्म की पवित्रता को नष्ट करने वाला' बतलाकर अपने उन पूर्वजों तथा पूज्य पुरुषों को भी, जिनमें तीर्थंकर तक शामिल हैं, अधार्मिक और धर्म की पवित्रता को नष्ट करने वाले ठहराया है, जिन्होंने अपने वर्ण अथवा जाति से भिन्न दूसरे वर्ण-जातियों की कन्याओं से विवाह किये थे तथा म्लेच्छ जातियों तक की कन्याएँ विवाही थीं और जिन सबकी कथाओं से जैन ग्रन्थ भरे पड़े हैं! और यह आपकी कितनी बड़ी धृष्टता है!! विजातीय विवाह की चर्चा बहुत असें तक समाज के पत्रों में होती रही है और उसे कोई भी विद्वान् अशास्त्रसम्मत सिद्ध नहीं कर सका। अन्त में विरोधियों को चुप ही होना पड़ा और उसके फलस्वरूप अनेक विजातीय विवाह डंके की चोट हो रहे हैं। ऐसी हालत में भी अपने हटाग्रह को न छोड़ना और वही बेसुरा राग अलापते हुए उसके विरोध को चुपके से ग्रन्थों में रखकर और उसे जिनवाणी तथा भगवान् महावीर की आज्ञा कहकर चलाना कितनी भारी नीचता और धृष्टता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं!!! एक दूसरे स्थान पर तो छोटे पृष्ठ के फुटनोट में आपने ऐसे विवाह करने वालों को और इसलिये अपने पूर्वजों तथा पूज्य पुरुषों को भी 'अनार्य' (म्लेच्छ) बतलाया है!! इस धृष्टता का भी कोई ठिकाना है!!!

(१०) पृष्ठ २२३ पर “वह राजकुमार राजा होकर प्रजा का न्याय मार्ग से पालन करेगा” यह वाक्य दिया हुआ है। और इसके ‘वह’ शब्द पर अंक १ डालकर नीचे एक फुटनोट लगाया गया है, जो इस प्रकार है—

“इस प्रकरण में विवाहविधि विदेह क्षेत्र में भी आगम की मर्यादा से बतलाई है। यह नहीं है कि कन्या स्वयं वरण करे या बालक अपने आप ही अपनी इच्छानुसार जिस तिस (जाति-कुजाति, योग्य-अयोग्य, नीच-ऊँच आदि सबको) को स्वीकार कर विवाह कर लेवे। ऐसा करना मर्यादा के बाहर है। विवाह धर्म का अङ्ग है, उसकी पूर्ति गुरुजन ही योग्य रीति से सम्पादन करते हैं। इसमें बालक-बालिकाओं को स्वतन्त्रता नहीं है।”

यह नोट ‘वह’ शब्द से अथवा उससे प्रारम्भ होने वाले उक्त वाक्य से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, यह तो स्पष्ट है। परन्तु इसे छोड़िये और इस नोट के विषय पर विचार कीजिये। इसमें स्वयंवर विवाह का निषेध किया गया है और उसके लिये ‘आगम की मर्यादा’ तथा इस प्रकरण में वर्णित ‘विदेह क्षेत्र की विवाहविधि’ की दुहाई दी गई है। परन्तु इस प्रकरण में विदेह क्षेत्र में होने वाले विवाहों की कोई खास विधियाँ निर्दिष्ट नहीं की गई और न यही कहा गया कि वहाँ अमुक एक विधि से ही सारे विवाह होते हैं, बल्कि भविष्य कथन के रूप में कर्म दहन व्रत के फल को प्राप्त एक राजकुमार के विवाह का साधारण तौर पर उल्लेख करते हुए केवल इतना ही कहा गया है कि “उस राजकुमार का पिता पुत्र को गुणों से उज्ज्वल अथवा अपने ही समान गुणवाला और यौवनसम्पन्न देखकर प्रसन्न होगा। उस पुत्र के विवाहार्थ बड़े कुलों की ऐसी सुशीला राजपुत्रियों की याचना करेगा जो रूप में अप्सराओं को मात करने वाली होंगी। ऐसी सुन्दराकार और मनोहर स्वरवाली कन्याएँ उस नेत्रानन्दकारी और यौवनसम्पन्न पुत्र को, सज्जनों को आनन्द देने वाले दानों तथा सुमङ्गलों को मङ्गलप्राप्ति के लिये करते हुए, बाजे गाजे के साथ विवाही जायेंगी।” यथा—

तत्पिता यौवनाढ्यं च दृष्ट्वा सूनु गुणोज्ज्वलं।
गुणेन स्वात्मतुल्यं वा मुदमाप्स्यति भूमिराट्॥२२७॥
तदात्मजविवाहार्थं याचयित्वा नृपाङ्गजाः।
महत्कुलोद्भवाः शुद्धाः रूपात्तर्जित-अप्सराः॥२२८॥
ईदृशाः सुन्दराकाराः सुस्वना शं प्रदायते(?)।
सूनवे यौवनाढ्याय नेत्रानन्दकराय वै॥२२९॥
नेष्यन्ति वाद्यद्योषौघान् दानोत्करसुमङ्गलान्।

कुर्वन् वै मङ्गलाप्त्यर्थं सज्जनानन्ददायकान्॥२३०॥ -पृष्ठ २२२

इन श्लोकों में न तो आगम की किसी मर्यादा का उल्लेख है—आगम या शास्त्र का नाम तक भी नहीं— न विवाह की कोई खास विधि ही स्पष्ट है और न यही पाया जाता है कि विदेह में स्वयंवर विधि का अथवा दूसरी किसी विवाह विधि का निषेध है। मालूम नहीं फिर अनुवादक जी ने इन

श्लोकों के आधार पर कैसे उक्त नोट देने का साहस किया है! इनसे भिन्न और कोई भी श्लोक विवाहविधि से सम्बन्ध रखने वाले इस प्रकरण में नहीं हैं। जान पड़ता है इन श्लोकों के अर्थ में जो जालसाजी की गई है उसी की तरफ नोट का इशारा है अथवा उसी को लक्ष्य में रखकर यह नोट लिखा गया है! अनुवादक जी का वह बेहद स्वेच्छाचार को लिये हुए छल परिपूर्ण अर्थ इस प्रकार है—

अर्थ—“उसका पिता बालक को यौवन अवस्था में देखकर अपनी जाति की गुणवाली, अपने समान ऋद्धि के धारक राजाओं की कन्याओं की याचना कर विधिपूर्वक विवाह (वाग्दान) स्वीकार करेगा। पश्चात् कुलाम्नाय और धर्मशास्त्र की विधि से विवाह करेगा। (इसके बाद कुल डेढ़ पंक्ति में पाँच श्लोकों का अर्थ दिया है और उनकी बहुत-सी बातें शायद अप्रयोजनभूत समझकर छोड़ दी गई हैं!)।”

इस अर्थ में “अपनी जाति की गुणवाली, अपने समान ऋद्धि की धारक” और “विधिपूर्वक विवाह (वाग्दान) स्वीकार करेगा। पश्चात् कुलाम्नाय और धर्मशास्त्र की विधि से विवाह करेगा” ये बातें मूल से बाहर की हैं—मूल के किसी भी शब्द का अर्थ नहीं है—अपनी तरफ से जोड़ी गई हैं। इन्हें निकाल देने पर इस अर्थ में फिर क्या रह जाता है और क्या छूट जाता है, उसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं!! खेद है कि अनुवादक जी इतनी धृष्टता धारण किये हुए हैं कि अपनी बातों को भी ग्रन्थ की बातें बतलाकर लोगों को ठगना और उनकी आँखों में स्पष्ट धूल डालना चाहते हैं!!! इस निर्लज्जता और बेहयाई का भी कुछ ठिकाना है!!! मालूम नहीं भट्टारकीय साहित्य के त्रिवर्णाचारादि आधुनिक भ्रष्ट ग्रन्थों को छोड़कर आप कौन से आगम ग्रन्थ की मर्यादा की दुहाई दे रहे हैं, जिसमें राजाओं (क्षत्रियों) के लिये एक मात्र अपनी ही जाति की कन्या से विवाह करने की व्यवस्था की गई हो और स्वयंवर विधि से विवाह का सर्वथा निषेध किया हो? भगवज्जिनसेनाचार्य ने तो आदिपुराण के १६वें पर्व में ‘शूद्रा शूद्रेण वोढव्य’ इत्यादि श्लोक के द्वारा अनुलोम क्रम से विवाह की व्यवस्था की है अर्थात् एक वर्ण (जाति) वाला अपने और अपने से नीचे के वर्ण (जाति) की कन्या से विवाह कर सकता है—और इसे युग की आदि में श्री आदिनाथ भगवान् द्वारा प्रतिपादित बतलाया है। और ४४वें पर्व में स्वयंवर-विधि से विवाह को ‘सनातनमार्ग’ लिखा है तथा सम्पूर्ण विवाहविधानों में सबसे अधिक श्रेष्ठ (वरिष्ठ) विधान प्रकट किया है, जैसा कि उसके निम्न श्लोक से प्रकट है—

सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः।

विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः॥३२॥

साथ ही, ४५वें पर्व में राजा अकम्पन के स्वयंवर विधान का जो अभिनन्दन भरत चक्रवर्ती ने किया था, उसका भी उल्लेख दिया है। भरत चक्रवर्ती ने भोगभूमि की प्रवृत्ति द्वारा लुप्त हुए ऐसे सनातन मार्गों के पुनरुद्धारकर्ताओं को सत्पुरुषों द्वारा पूज्य भी ठहराया था, जैसा कि निम्न वाक्यों से प्रकट है—

तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन्यद्यकम्पनाः ।

कः प्रवर्तयितान्योऽस्य मार्गस्यैष सनातनः॥४५॥

मार्गाश्चिरंतनान्येऽत्र भोगभूमितिरोहितान् ।

कुर्वन्ति नूतनान्सन्तः सद्भिः पूज्यास्त एव हि॥५५॥

इसके सिवाय, उक्त आदिपुराण के १६वें पर्व में यह भी बतलाया गया है कि विदेहक्षेत्रों वर्णाश्रमादिक की जैसी कुछ व्यवस्था थी, उसी को युग की आदि में भगवान् आदिनाथ ने इस भरत क्षेत्र में प्रवर्तित करना उचित समझा था और तदनुसार ही वह सब व्यवस्था प्रवर्तित की गई थी।^{५३} ऐसी हालत में स्वयंवर विधि जो युग की आदि में यहाँ प्रवर्तित की गई वह विदेह क्षेत्रों की व्यवस्था के अनुसार ही की गई है और इसलिये विदेहों में स्वयंवर विधि से विवाहों का होना स्पष्ट है।

आदि पुराण से पहिले शक संवत् ७०५ में बने हुए श्री जिनसेनाचार्य के हरिवंशपुराण में भी स्वयंवर विवाह का तथा अन्य जातियों की कन्याओं से अनुलोम प्रतिलोम रूप से विवाहों का बहुत कुछ उल्लेख है^{५४}। और उसमें रोहिणी के स्वयंवर के प्रसंग पर निम्न वाक्य द्वारा स्वयंवर की नीति का स्पष्ट उल्लेख किया गया है अर्थात् बतलाया है कि 'स्वयंवर को प्राप्त हुई कन्या उस वर को वरण करती-स्वीकार करती-है जो उसे पसन्द होता है, चाहे वह वर कुलीन हो या अकुलीन, क्योंकि स्वयंवर में वर के कुलीन या अकुलीन होने का कोई नियम नहीं होता-

स्वयंवरगता कन्या जैन विवृणीते रुचितं वरं ।

कुलीनमकुलीनं वा न क्रमोऽस्ति स्वयंवरे॥३१-५३॥

उक्त हरिवंशपुराण से भी कोई एक शताब्दी पहले के बने हुए रविषेणाचार्य के पद्मचरित (पद्मपुराण) में भी सीता के स्वयंवर का वर्णन है। इन सब ग्रन्थों से अधिक प्राचीन और अधिक मान्य ऐसा कोई भी जैन ग्रन्थ नहीं है जिसमें स्वयंवरादि का निषेध किया गया हो।

अतः अनुवादकजी का उक्त नोट बिल्कुल निःसार, छल से परिपूर्ण, दुःसाहस को लिये हुए और उनकी एकमात्र दूषित चित्तवृत्ति का द्योतक है। इसी तरह के अनेक निःसार नोट ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न स्थानों पर लगाये गये हैं, जिन सबका परिचय और आलोचन अधिक विस्तार की अपेक्षा रखता है और इसलिये उन्हें छोड़ा गया है।

५३. पूर्वापर विदेहेषु या स्थितिः समुपस्थिता । साऽद्य प्रवर्तनीयाऽत्र ततो जीवन्त्यमू प्रजाः॥१४३॥

षट् कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः । यथा ग्रामगृहादीना सस्त्यांश्च पृथग्विधाः॥१४४॥

तथाऽत्राप्युचिता वृत्तिरूपायैरभिरंगिनाम् । नोपायान्तरमस्त्येषां प्राणिनां जीविकां प्रति॥१४५॥

५४. इस ग्रन्थ तथा अन्य ग्रन्थों सम्बन्धी विवाहविधियों का विशेष परिचय पाने के लिये लेखक की 'विवाह क्षेत्र प्रकाश' नाम की पुस्तक को देखना चाहिए। यह पुस्तक ला० जौहरीमल जी जैन सराफ, दरीबाकलां, देहली के पास से मिलती है।

लेख बहुत बढ़ गया है और इसलिये अब मैं आगे कुछ थोड़ी-सी बातों की प्रायः सूचनाएँ ही और कर देना चाहता हूँ, जिससे पाठकों को इस ग्रन्थ के अनुवाद विषय का और अनुवादक की चित्तवृत्ति एवं योग्यता का यथेष्ट व्यापक ज्ञान हो जाये।

(११) पृष्ठ ३७ पर श्लोक नं० १३५ के ‘चूर्णोदकाज्यं’ पद के अर्थ में ‘आटा, पानी और घी, के बाद ‘आदि’ शब्द बढ़ाया है और उसके द्वारा मूल की अर्थमर्यादा को बढ़ाते हुए शूद्रों के प्रति होने वाले अन्याय की सीमावृद्धि की है! इसी तरह पृष्ठ २१४ पर श्लोक नं० १६० के ‘शूद्रस्पर्श्यं जलं चूर्णं घृतं’ पदों के अर्थ में ‘शूद्र के हाथ का जल, घृत और आटा’ के बाद ‘आदि’ शब्द बढ़ाकर वही अनर्थ घटित किया है^{५५}!!

(१२) पृष्ठ ७२ पर श्लोक नं० ३०१ के अर्थ में ‘तपः’ पद का अर्थ छोड़ दिया है और उसकी जगह “गुरु सेवा करना” तथा “जैनधर्म के अन्तरंग शत्रुओं का नाश करना” ये दो बातें पुण्य कारणों में बढ़ाई गई हैं, जिनमें से पिछली बात का संकेत सुधारकों के नाश की ओर जान पड़ता है और उससे अनुवादक की एक खास मनोवृत्ति का पता चलता है!!

(१३) पृष्ठ ७८ पर श्लोक नं०-३३८ के अर्थ में ‘श्रीमज्जिनेन्द्र के बिम्बों की प्रतिष्ठा’ से पहले “अपरिमित धनादिक के व्यय के द्वारा” और बाद को “महान् उत्सव कराने लगे” तथा “रथोत्सव आदि विविध प्रकार के उत्सव करने लगे” ये तीन बातें बढ़ाई गई हैं!

(१४) पृष्ठ ८५ पर, कुन्दकुन्द के गिरनार यात्रासंघ की गणना देते हुए, श्लोक नं० ३६१ का अर्थ न देकर उसकी जगह निम्न वाक्य यों ही कल्पित करके दिया गया है— “उन सबके साथ अपने-२ नौकर-चाकर, सिपाही, प्यादे तथा सब प्रकार के साधन गाड़ी घोड़े आदि थे।”

(१५) पृष्ठ ११२, ११३ पर श्लोक नं० ५०१ से ५०६ का अर्थ मूल के अनुकूल न होकर बहुत कुछ स्वेच्छाचार को लिये हुए है। इसमें मूल के नाम पर बहुत-सी बातें अपनी तरफ से बढ़ाई गई हैं, जैसे “पूजन के पाँच अंगों में तीन अंग तो अभिषेक के प्रारम्भ में ही करने पड़ते हैं”, “सबसे पीछे कलशाभिषेक करना चाहिए”, “गंधलेपन पुष्पवृष्टि आदि”, “यदि इस क्रम से पूजा की जाये तो सर्वसम्पत्ति प्राप्त होती है” इत्यादि!

(१६) पृष्ठ १४० पर श्लोक नं० ६४७ के अर्थ में ‘अभिषेकादि’ से पहले “तीर्थङ्कर द्वारा प्रतिपादित” और बाद को “पवित्र आगमोक्त” ये “क्रिया” के विशेषण बढ़ाये गये हैं!

(१७) पृष्ठ १६८ पर श्लोक नं० ९१ के अर्थ में निम्न दो बातें मूल के नाम पर खास तौर से बढ़ाई गई हैं—

क. “भगवान् की मूर्ति की परोक्ष-पूजा प्रत्यक्ष-पूजा से भिन्न होती है। इसलिये परोक्षपूजा उस मूर्ति की” (आगे पंचामृत के नामादिक देकर उनसे वह की जाती है ऐसा उल्लेख है।)

५५. ये दोनों श्लोक पहले ‘शूद्रजलादि के त्याग का अजीब विधान’ इस उपशीर्षक के नीचे उद्धृत किये जा चुके हैं।

ख. “यह सनातन विधि श्री जिनेन्द्र देव ने प्रतिपादन की है और इन्द्रादिकदेव इसी विधि से नन्दीश्वरादि द्वीप में अकृत्रिम जिनबिम्बों का अभिषेक करते हैं।”

(१८) पृष्ठ १७२ पर श्लोक नं० ११५ के अर्थ में निम्न बातें अपनी तरफ से मिलाई गई हैं—

“वे मुनीश्वर कुमार्ग पर चलने वालों को सुमार्ग पर लाते थे। जिनराज की आज्ञा भंग करने वालों को सन्मार्ग पर लाते थे। और मनमानी करने वालों को योग्य व्यवस्था कर सन्मार्ग पर लाते थे। संघ में बिना दण्ड के कभी व्यवस्था नहीं होती है। राजदण्ड से जैसे अन्याय रुक जाता है, इसी प्रकार पंचायती दण्ड से धर्म विरुद्ध चलने वालों की अनीति मिट जाती है।”

(१९) पृष्ठ १७५ पर श्लोक नं० १२४ के अर्थ में निम्न वाक्य मूल के शब्दों से कोई सम्बन्ध नहीं रखते, ऊपर से मिलाये गये हैं—

“परन्तु मूर्तिपूजा परमागम में सर्वत्र बतलाई है। बिना मूर्तिपूजा के आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये केवल आत्मा के श्रद्धान को मानकर देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान नहीं करना सो मिथ्यात्व है।” (२०) पृष्ठ १७७ पर श्लोक नं० १३० के अर्थ में “गुरु बिना ज्ञान नहीं होता है” यह कहावत भी सर्वत्र प्रसिद्ध है। ये शब्द बढ़ाये गये हैं—मूल में ऐसा कोई उल्लेख नहीं।

(२१) पृष्ठ १८४, १८५ पर “भो ढूँढ्याः नामस्थापनाद्रव्यभावतश्चतुर्धा जिनेन्द्रस्य स्मरणं च पूजनं स्यात्” इस वाक्य के अर्थ में निम्न बातें बढ़ाई गई हैं—

“प्रत्येक वस्तु में चारों निक्षेप नियम से होते हैं परन्तु आप लोगों ने तीन निक्षेप (नाम द्रव्य भाव) तो स्वीकार किये हैं और बीच में स्थापना निक्षेप को छोड़ दिया, सो क्यों?” (इत्यादि पूरी छः पंक्तियों की बातें ‘अज्ञान है’ तक)।

(२२) पृष्ठ २०४ पर श्लोक नं० ९५ के अर्थ में यह बात बढ़ाई गई है—

“अन्यथा एक मुख पर पाटी बांधकर विशेष म्लेच्छाचार क्यों फैलाते हो और जैनधर्म को घृणापूर्ण बनाकर निन्दा के पात्र होते हो।”

(२३) पृष्ठ २११ पर श्लोक नं० १४२ के अर्थ में यह बात अपनी तरफ से मिलाई गई है, मूल में नहीं है—

“अपने घर से उत्तमोत्तम भगवान् के पूजन की सामग्री तथा अभिषेक की सामग्री (इक्षुरस-दूध-दही-घृत-सर्वौषधि-शर्करा-फल-फूल-केशर-कपूर-दीपक आदि) ले जावे।”

(२४) पृष्ठ २६७ पर सम्मोदशिखर के आनन्दकूट से मुक्ति जाने वालों की संख्या और उस कूट की वन्दना का फल बतलाने के अनन्तर जो बात मूल के नाम पर श्लोकों के अर्थ में अपनी तरफ से बढ़ाई गई है वह इस प्रकार है—

“सनत्कुमार चक्रवर्ती ने चतुर्विध संघसहित यात्रा की। यह संघ सबसे भारी निकाला गया था। लाखों की संख्या में यात्री थे। सबकी चर्या संघ में होती थी।”

इसी तरह आगे अविचलकूट आदि के वर्णन में भी चतुर्विधसंघसहित वन्दना करने वाले

राजाओं के नामादिक का उल्लेख मूल वाक्यों के अर्थों में बढ़ाया गया है, संघ में हजारों मुनियों के होने का भी कहीं-कहीं उल्लेख किया गया है और किसी-किसी कूट का माहात्म्य विशेष भी अपनी तरफ से जोड़ा गया है, जैसे प्रभासकूट के वर्णन में (पृष्ठ २६८ पर) लिखा है—“इस कूट की रज लगाने से कुष्ठ रोग दूर होता है। विशेष एक बात यह भी है कि बीस कूटों की यात्रा के समान इसका फल है।” इस तरह की बहुत-सी बातें इस सम्मेलनशिखर प्रकरण में चुपके-से अर्थ में शामिल की गई हैं और इस तरह उन्हें मूल की प्रकट किया गया है।

(२५) पृष्ठ ३१८ पर तीव्र मोही होने के कारणों में हींग, सब्जी, नमक, तेल आदि कई चीजों के खरीदने-बेचने (व्यापार) की बात को छोड़ दिया है। और “मशीनों के द्वारा महान् हिंसक होने वाले व्यापार” आदि की बातों को बढ़ाया गया है जो मूल में नहीं हैं। इसी तरह की इस फलवर्णन के प्रकरण में आगे-पीछे बहुत-सी बातें अर्थ करते समय छोड़ दी गई और बहुत-सी बढ़ाई गई हैं। जैसे विधवा होने के कारणों में “पुनर्विवाह” और “वैधव्यदीक्षानाश” आदि की बातें बढ़ाई गई हैं और कितना ही वर्णन मूल से बाहर दिया है। (पृष्ठ २७४-२७६)

(२६) पृष्ठ ३८० पर श्लोक नं० १९० के अर्थ में ये बातें बढ़ाई गई हैं—

“वर्तमान में वर्णव्यवस्थालोप, विधवाविवाह, स्पर्शास्पर्शलोप, समानहक्क आदि समस्त धर्मविरुद्ध नीतिविरुद्ध मर्यादाविरुद्ध बातों को धर्मनीति और कर्तव्य बतलाया जा रहा है। यह सब राजा और राजा की ऐसी ही कुशिक्षा का फल है। यह बात सच है कि यथा राजा तथा प्रजा।”

(२७) पृष्ठ ३८४ पर श्लोक नं० २११ के अर्थ में यह बात बढ़ाई गई है, जो उक्त श्लोक में नहीं है—

“अगणित दीपकों से दीपावली (दिवाली) को प्रकट किया। उसी दिवस से यह उत्सव दीपावली के नाम से दिवाली आज तक प्रचलित है।”

(२८) पृष्ठ ३८८ पर श्लोक नं० २३३ के अर्थ में राजा श्रेणिक द्वारा पावापुर में स्थापित वीर जिनालय की प्रतिष्ठा के साथ में “अतिशय धूमधाम से” ये शब्द जोड़े गये हैं और साथ ही यह बात बिल्कुल अपनी तरफ से कल्पित करके जोड़ी गई है कि राजा श्रेणिक ने— “उस जिनालय में श्री वीर प्रभु के स्मरणार्थ वीर प्रभु की चरणपादुका स्थापित की।”

(२९) पृष्ठ ८० पर कुन्दकुन्द की ग्रन्थरचना का उल्लेख करते हुए जो श्लोक नं० ३५२ दिया है उसका अनुवादक जी द्वारा निर्मित अर्थ अर्थ की वृद्धि, हानि तथा विपरीतता तीनों को लिये हुए है। उसमें जहां कुछ ‘चेलकांत’ आदि पदों का अर्थ छोड़ा है वहां “मुनिधर्म के प्रकाश करने वाले ग्रन्थ भी बनाये” यह अर्थ अपनी तरफ से जोड़ा है और ‘सकलान् ग्रन्थान् करिष्यति’ (सम्पूर्ण ग्रन्थों को बनाएगा) का विपरीत अर्थ “बहुत-से ग्रन्थ बनाये” दिया है। इसी तरह ‘प्रभावार्थ जिनधर्मस्य’ इन शब्दों का अर्थ जो “जिनधर्म की प्रभावना के लिये होता है” उसकी जगह यह अर्थ दिया है—

“जिससे जिनेन्द्र के धर्म की अपूर्व महिमा प्रकट हुई। जैनधर्म की प्रभावना हुई, तथा विद्वानों

में जैनधर्म का चमत्कार हुआ और जगत् में जैनधर्म की मान्यता बढ़ी।”

(३०) जिस प्रकार उक्त पृष्ठ ८० पर भविष्यकाल की क्रिया ‘करिष्यति’ का अर्थ भूतकाल में दिया है, उसी प्रकार पृष्ठ २४० पर भी ‘भोक्ष्यति’ (भोगेगा) क्रियापद का अर्थ “भोगने लगा” दे दिया है, जो प्रकरण को देखते हुए बहुत ही बेढंगा जान पड़ता है! साथ में ‘समापन्वान्’ पद जो यहां ‘सः’ का विशेषण था उसे क्रियापद समझकर उसका अर्थ ‘प्राप्त किया’ दे दिया है! और पृष्ठ १४२ पर ‘भवन्ति’ का अर्थ ‘होते हैं’ की जगह ‘होंगे’ दिया गया है! इसी तरह अन्यत्र भी अनेक क्रियापदों के अर्थ विपरीत किये गये हैं!!!

(३१) पृष्ठ १३५ पर एक श्लोक निम्न प्रकार से दिया है—

ह्यतो मुनीपदस्यैव धारकाः पुरुषाः कलौ।

तुच्छा जानीहि त्वं भूप यथा भूपास्तथा प्रजा॥

इसमें बतलाया गया है कि ‘पूर्वोल्लेखित कारणों से अर्थात् प्रतिदिन मुनिमार्ग की हानिता, शरीर की हीनता, हीन संहनन और ब्राह्मणों तथा राजाओं का जैनधर्म से पराङ्मुख होना आदि कारणों से कलियुग में मुनिपद के धारक तुच्छ पुरुष ही होंगे, जैसे राजा वैसी प्रजा’। यहां जिन राजाओं के साथ तुलना करते हुए उन्हें तुच्छ कहा है ग्रन्थ के शुरू में (पृष्ठ २६, २७) उन राजाओं को ‘नीचा ही राज्यभोक्ताः’ ‘न्यायहीनाश्च भूमिपाः’ जैसे शब्दों के द्वारा नीचादि प्रकट किया है, और साधुओं को भी ‘साधुगुणविहीनांगाः’ आदि लिखा है, जिसका अर्थ खुद अनुवादक जी ने यह किया है कि “पंचम काल में ऐसे साधु और भेषधारी ब्रह्मचारी होंगे जिनमें अपने पद के योग्य गुणों का अभाव होगा”। ऐसी हालत में प्रसंगानुसार यहा ‘तुच्छ’ का अर्थ हीन या निकृष्ट होना चाहिए था, परन्तु उसे न देकर स्वल्पसंख्यक अर्थ किया गया है। लिखा है कि “मुनिपद के धारक वीर पुरुषों की संख्या स्वल्प होगी”। शायद अनुवादक जी को यह भय हुआ हो कि इस विशेषण पद पर से उनके वर्तमान गुरु कहीं तुच्छ (हीन अथवा निकृष्ट) न समझ लिये जायें, भले ही वे साधु गुणविहीनांग हों!!

(३२) पृष्ठ ११९ पर श्लोक नं० ५३८, ५३९ ‘युग्म’ रूप से हैं— दोनों को मिलाकर एक पूरा वाक्य बनता है और उनका सार (विशेषणों को छोड़कर) सिर्फ इतना ही है कि “वह ब्राह्मणी उसी सेठ पुत्री के वचनानुसार सहर्ष एक घड़ा पानी का लेकर (आधाय) और उसे अभिषेक के लिये (अभिषेकाय) जिन मंदिर में धरकर (धृत्वा) अपने घर चली आई (स्वस्थानं चागात्)”। परन्तु अनुवादक जी ने यह सब कुछ न समझकर दोनों का बड़ा ही विलक्षण अर्थ अलग-अलग कर डाला है! एक में यह सूचित किया है कि “वह ब्राह्मणी पानी का एक घड़ा नदी में से भरकर और जिन मंदिर जाकर उसे श्री वीतराग अरहंत प्रभु पर चढ़ा आई और फिर अपने घर पर गई।” और दूसरे में यह बतलाया है कि “उस ब्राह्मणी ने श्री जिन मंदिर में श्री जिनदेव का अभिषेक किया और वह अतिशय हर्ष को प्राप्त हुई।” यहां ‘अभिषेकाय धृत्वा’ का अर्थ ‘अभिषेक किया’ दिया है, जो बड़ा ही विचित्र जान पड़ता है! इसी तरह अन्यत्र भी युग्म श्लोकों को न समझकर उनके अर्थ में गड़बड़

की गई है!!

(३३) पृष्ठ १६२ पर श्लोक नं० ५५ में प्रयुक्त हुए ‘भवतां यदि श्रद्धा स्यात् ग्रन्थानां’ इन शब्दों का स्पष्ट अर्थ है—‘यदि तुम्हारे ग्रन्थों की श्रद्धा हो’। परन्तु अनुवादक जी ने ‘जिससे जिनागम में श्रद्धा हो’ यह विलक्षण अर्थ किया है। ‘यदि’ का अर्थ ‘जिससे’ बतलाना यह अनुवादकीय दिमाग की खास उपज जान पड़ती है!!

(३४) पृष्ठ २६४ पर संख्यावाचक पद ‘चन्द्रपक्षप्रमः’ का अर्थ ‘१२’ किया गया है, जबकि वह ‘अंकानां वामतो गतिः’ के नियमानुसार ‘२१’ होना चाहिए था। पृष्ठ २८३ पर ‘हिमांशुनेत्र’ का अर्थ भी ‘२१’ की जगह ‘१२’ गलत किया गया है, जबकि इसी पृष्ठ पर ‘रंध्रवेदभवं’ का अर्थ उक्तनियमानुसार “४९ भव” दिया है! और इससे अनुवादक का खासा स्वेच्छाचार पाया जाता है! और पृष्ठ २६७ पर ‘नेत्राद्रिप्रमलक्षः’ पद का अर्थ ‘६२ लाख’ दिया है, जबकि वह ‘७२ लाख’ होना चाहिए था, क्योंकि ‘अद्रि’ शब्द सात की संख्या का वाचक है! इसी तरह अन्यत्र भी कितने ही संख्यावाचक शब्दों तथा पदों का अर्थ इसमें विपरीत किया गया है!!!

ये सब (प्रायः नं० २९ के लेकर यहाँ तक) अनुवादकजी के उस संस्कृत-ज्ञान के खास नमूने हैं, जिसके आधार पर वे सुधारकों तथा ग्रन्थों की समालोचना करने वाले विद्वानों को यह कहने बैठे हैं कि “उनको संस्कृत प्राकृत का ज्ञान नहीं है!” परन्तु एक बढ़िया नमूना तो अभी बाकी ही रह गया है, और वह आगे दिया जाता है।

(३५) श्रेणिक की प्रश्नावली की उत्तर-समाप्ति के बाद ग्रन्थ में पृष्ठ ३७८ पर दो पद्य निम्न प्रकार से दिये हैं—

भूतं भांतमभूतमेव ह्यखिलं संसारतापापहं।
 वीरो वीरगुणाकरो मुनिनुतो वृत्तांतमेवांजसा॥
 आयुः कायसुसारवैभवयुतान् पुण्योदयात् सत्सुखान्।
 मर्त्यानां च पृथक् पृथक् जिनपतिः त्रिषष्टिकानां शुभम्॥१७६॥
 पौराणांश्च तथा हि अन्यमनुजानां च चरित्रं महत्।
 तत्त्वातत्त्वविभेदकं च स्मरतो मोक्षस्वरूपं तथा॥
 कृत्वेत्थं च जिनेश्वरो ह्यघहरो व्याख्यानकं चोत्तमं।
 मोक्षं ह्याप दयार्द्रधीः जितरिपुः सर्वाधिपैर्वंदितः॥१७७॥

ये दोनों पद्य ‘युग्म’ रूप से हैं— दोनों का मिलकर एक वाक्य बनता है, जिसकी क्रिया ‘आप’ दूसरे पद्य के अन्तिम चरण में पड़ी हुई है। इनमें बतलाया है कि—

“इस प्रकार वीरगुणों के आकर मुनियों से स्तुत, पाप का नाश करने वाले, दयार्द्रबुद्धि, जितरिपु और सर्व अधिपतियों से वंदित ऐसे जिनपति श्री महावीर जिनेश्वर ने, संसार ताप को दूर करने वाले भूत-भविष्यत-वर्तमान सम्बन्धी सम्पूर्ण शुभ वृत्तांत का, मनुष्यों के आयु काय तथा सार वैभवसहित

पुण्योदय से होने वाले सत्सुखों का, त्रेसठ शलाका पुरुषों के पृथक् पृथक् पौराणों का तथा दूसरे मनुष्यों के महत् चरित्र का, तत्त्वातत्त्व के विभेद का और मोक्ष के स्वरूप का चिन्तन करते हुए (अर्थात् इन सबको लिये हुए) उत्तम उपदेश देकर मोक्ष को प्राप्त किया।'

इस आशय पर से ऐसा मालूम होता है कि ग्रन्थकार ने इन पद्यों को संभवतः त्रिषष्टि शलाका पुरुषों के चरित्र वाले किसी महापुराण पर से उद्धृत किया है, जहाँ ये उपसंहार वाक्य के रूप में दिये गये होंगे और अपनी मूर्खतावश इन्हें यहाँ रखा है, क्योंकि एक तो इनका विषय प्रकृत ग्रन्थ के साथ में यथेष्ट रूप से संगत नहीं बैठता, दूसरे यहां भगवान् महावीर को मोक्ष में भेजकर कुछ कथन के बाद फिर पृष्ठ ३८२ पर, अथ श्रीमज्जिनाधीशो महावीरः सुरार्चितः। विहारं कृतवान्' इत्यादि वाक्यों के द्वारा उनके विहारादि का जो कथन किया गया है वह नहीं बन सकता। और इसलिये इन वाक्यों का यहां दिया जाना ग्रन्थकार की स्पष्ट मूर्खता का द्योतक है। परन्तु इसे छोड़िये और अनुवादक जी की मूर्खता को लीजिए। उन्होंने इन पद्यों को 'युग्म' रूप ही नहीं समझा, न इनका ठीक आशय ही वे समझ सके हैं और इसलिये इनका जो अलग-अलग विलक्षण अर्थ दिया गया है वह उनकी बड़ी ही स्वेच्छाचारता, निरंकुशता एवं संस्कृतानभिज्ञता को लिये हुए है। और वह क्रमशः इस प्रकार है—

अर्थ—“हे मगधेश्वर! जो कुछ संसार में जितना वृत्तान्त हो गया है, आगे होगा और वर्तमान काल में हो रहा है वह सब वीर प्रभु अपने दिव्य ज्ञान से परिपूर्ण यथार्थ रूप से जानते हैं। इसीलिये वीर प्रभु सर्वज्ञ वीतराग और त्रिलोकवंदित है। मुनिगणों से पूज्य हैं। जो मनुष्य वीर प्रभु के वचनों का श्रद्धान कर उनको ही अपना ध्येय समझता है, अपना कर्तव्य मानता है, वही आयुः काय भोगसंपदा आदि उत्तमोत्तम सामग्री को प्राप्त कर महान् पुण्य संपादन करता है। वह पुण्य त्रिषष्टि पुरुषों के चरित्रादि को श्रवण करने से संपादित होता है।”

अर्थ—“श्रीवीरप्रभु ने त्रिषष्टी शलाका पुरुषों का पुण्योत्पादक जीवनचरित्र, तत्त्वातत्त्व का विवेचन, मोक्ष का स्वरूप आदि समस्त पदार्थों का व्याख्यान समोसरण में दिया। वे दयालु भगवान् सदैव जयवन्त रहो। ”

जिन पाठकों को संस्कृत का कुछ भी बोध है वे मूल के साथ तथा ऊपर दिये हुए उसके आशय के साथ तुलना करके सहज ही में मालूम कर सकते हैं कि यह अनुवाद कितना बे-सिर पैर का, कितना विपरीत और मूल के साथ कितना असम्बद्ध है तथा अनुवादक के कितने असत्य प्रलाप को सूचित करता है। इसमें “हे मगधेश्वर” यह संबोधन पद तो मूल से बाह्य होने के अतिरिक्त अनुवादक की महामूर्खता प्रकट करता है, क्योंकि ये दोनों पद्य ग्रन्थकार के उपसंहार वाक्यों के रूप में हैं। महावीर की तरफ से श्रेणिक के प्रति कहे हुए नहीं हैं और ग्रन्थकार के सामने मगधेश्वर (राजा श्रेणिक) उसके संबोधन के लिये नहीं था। मालूम नहीं “सदैव जयवन्त रहो” यह आशीर्वाद और “जो मनुष्य वीर प्रभु के वचनों का श्रद्धान कर” इत्यादि वाक्य कौन से शब्दों के अर्थ हैं! और ‘मोक्षं ह्याप’ जैसे पदों के अर्थ को अनुवादकजी बिल्कुल ही क्यों उड़ा गये हैं!! ये शब्द ऐसे नहीं थे जिनका अर्थ उनकी

समझ के बाहर हो- उन्होंने खुद पृष्ठ ३८३ पर 'मोक्षमाप' का अर्थ 'निर्वाण पद को प्राप्त हुए' दिया है। फिर यहाँ वह अर्थ न देना क्या अर्थ रखता है? जान पड़ता है ग्रन्थ में आगे भगवान् के विहार आदि का कथन देखकर ही यहाँ उनके निर्वाण का कथन करना उन्हें संगत मालूम नहीं दिया और इसीलिये उन्होंने उक्त पदों का अर्थ छोड़ दिया है! यह उनकी स्पष्ट मायाचारी तथा चालाकी है!! और अनुवादक के कर्तव्य से उनका भारी पतन है!!!

उपसंहार

इस प्रकार कुछ नमूनों के साथ यह अनुवाद का संक्षिप्त परिचय है। और इस पर से अनुवाद की असत्यता, निःसारता, अर्थ की अनर्थता और अनुवादक की निरंकुशता, चालाकी, मायाचारी, कपटकला, धृष्टता, धोखादेही और वह दूषित मनोवृत्ति आदि सब कुछ स्पष्ट हैं। वास्तव में यह अनुवाद मूल से भी अधिक दूषित है और एक सत्यव्रतादि के धारी तथा सप्तम प्रतिमा के आचार के साथ बद्धप्रतिज्ञ हुए ब्रह्मचारी के नाम पर भारी कलंक है। इतना अधिक झूठा, बनावटी और स्वेच्छाचारमय अनुवाद मैंने आज तक कोई दूसरा नहीं देखा। शायद ही किसी दूसरे ने इतना झूठा और छल-कपटपूर्ण अनुवाद किया हो। इस अनुवाद पर से अनुवादक की जिस कपट प्रबन्धमय असत् प्रवृत्ति का पता चलता है, उसके आधार पर ऐसा अनुमान होता है कि अनुवादक ब्रह्मचारी ज्ञानचन्द्र उर्फ पं० नन्दनलाल जी ने सत्यव्रतादिक की जो चपरास अपने गले में डाल रखी है उसमें प्रायः कुछ भी तत्त्व नहीं है-वह अधिकांश में दूसरों पर अपना प्रभाव जमाने अथवा अपनी स्वार्थसाधना के लिये नुमाइशी जान पड़ती है। उसे इस अनुवाद की रोशनी में सत्यघोष की उस कैंची से कुछ भी अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता-न उससे अधिक उसका कोई मूल्य आँका जा सकता है-जिसे सत्यघोष ने इस विज्ञापन के साथ अपने गले में लटकाया था कि 'यदि भूलकर भी मेरे मुख से झूठ निकल जायेगा तो मैं इस कैंची से उसी क्षण अपनी जीभ काट डालूँगा' परन्तु बाद को एक घटना पर से जाहिर हुआ कि वह प्रायः झूठ और मायाचार का पुतला था। उसी तरह इस अनुवाद पर से अनुवादक जी भी प्रायः झूठ और मायाचार के अवतार जान पड़ते हैं। मुझे तो उनके इस पतन को देखकर भारी अफसोस होता है!!

अपनी ऐसी जघन्य स्थिति और परिणति के होते हुए भी अनुवादक जी धर्मात्मा और विद्वान् दोनों बनते हैं, विद्वत्ता की डींगें हाँकते हैं और दूसरों को यों ही मूर्ख अधार्मिक आगमविरोधी धर्मकर्मलोपक तथा संस्कृत प्राकृत के ज्ञान से शून्य बतलाते हैं। यह सब उनकी निर्लज्जता और बेहयाई का ही एक मात्र चिह्न है। यदि यह निर्लज्जता का गुण उनमें न होता तो वे कदापि ऐसा झूठा जाली अनुवाद प्रस्तुत करने का साहस न करते, न व्यर्थ की डींगें हाँकते और न मिथ्या प्रलाप करते। उनकी इस प्रवृत्ति और अनुवाद की विडम्बना को देखकर मुझे श्रीसिद्धसेनाचार्य की निम्न उक्ति याद आती है, जो ऐसे ही निर्लज्ज पण्डितों को लक्ष्य करके कही गई है-

दैवखातं च वदनं आत्मायन्तं च वाङ्मयम्।

श्रोतारः सन्ति चोक्तस्य निर्लज्जः को न पण्डितः॥

अर्थात्—“मुख तो दैव ने खोद दिया है (बना ही रखा है), वचन अपने अधीन है (इच्छानुसार उसका प्रयोग करना आता है) और जो कुछ कहा जाता है उसको सुनने वाले भी मिल ही जाते हैं, ऐसी स्थिति में कौन निर्लज्ज है जो पण्डित न बन सके?” भावार्थ—सभी निर्लज्ज, जिन्हें कुछ बोलना अथवा लिखना आता है पण्डित बन सकते हैं, क्योंकि लज्जा ही अयोग्यों के पण्डित बनने में बाधक होती है। प्रत्युत इसके योग्यों के पाण्डित्य में वह सहायक बनती है। उसके कारण उन्हें सदैव यह ख्याल बना रहता है कि कहीं कोई बिना सोचे समझे ऐसी कच्ची बात मुँह से न निकल जाये जिसके कारण विद्वानों के सामने लज्जित होना पड़े। और इसलिये वे अपनी बात को बहुत कुछ जांच तौलकर कहते हैं।

मूल ग्रन्थकार पं० नेमिचन्द्र के ऊपर भी यह उक्ति खूब फबती है। उसकी धूर्त लीलाओं तथा योग्यताओं का पाठक भले प्रकार अनुभव कर चुके हैं और यह जान चुके हैं कि यह ग्रन्थ कितना अधिक जाली, झूठा, निःसार, प्रपंची, असम्बद्धप्रलापी तथा विरुद्ध कथनों से परिपूर्ण है और इसमें भग० महावीर की कैसी मिट्टी खराब की गई है। इतने पर भी स्वयं ग्रन्थकार इसकी बड़ी प्रशंसा करता है—इसे जिनवरमुखजात, सकलमुनिपसेव्य, पापप्रणाशक, धर्मजनक, शिवप्रद, बुधनुत, सद्बुद्धिदाता, प्रवरगुणदाता, पावन, सकलमनप्रिय और सिद्धान्तसमुद्र का सार आदि और न मालूम क्या-क्या बतलाता है, इसी के पढ़ने, स्वाध्याय करने आदि की प्रेरणा करता है और अपने को ‘विद्वद्भर’ लिखता है!!^{५७} इससे पाठक समझ सकते हैं कि ग्रन्थकार का यह कितना निर्लज्ज पाण्डित्य अथवा धृष्टतामय प्रलाप है!!!

मैं समझता हूँ मूलग्रन्थ और उसके अनुवाद का जो परिचय ऊपर दिया गया है वह काफी से भी कहीं अधिक हो गया है और इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि यह ग्रन्थ वास्तव में कोई जैन ग्रन्थ नहीं किन्तु जैन ग्रन्थों का कलंक है, पवित्र जैनधर्म तथा भगवान् महावीर की निर्मल कीर्ति को मलिन करने वाला है, सिर से पैर तक जाली है और विषमिश्रित भोजन के समान त्याज्य है। इसलिये इसके विषय में समाज का जो कर्तव्य है वह स्पष्ट है—उसे अपने पवित्र साहित्य, अपने पूज्य प्राचीन आचार्यों की कीर्ति और अपने समीचीन आचार-विचारों की रक्षा के लिये ऐसे विकृत

५७. इस ग्रन्थ-प्रशंसा के कुछ वाक्य नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं—

“जिनवरमुखजातं गौतमाद्यैः प्रणीतं सकलमुनिपसेव्यं हि इदं भो भजध्वम्।”

“कुर्वीध्वं ह्यघहानये अनुदिनं स्वाध्यायमस्यैव वै।”—पृष्ठ ४०३

“बुधाश्चेमे ग्रन्थं प्रवरगुणदं धर्मजनकं। अघा नाशं यान्ति श्रवणपठनादस्य निखिलाः।”

“ग्रन्थेमं बुधसत्तमाः शिवप्रदं विद्वद्वरेणैव वै। प्रोक्तं पापप्रणाशकं बुधनुतं सद्बुद्धिदं पावनम्॥”—पृष्ठ ४०८

“सारं सिद्धान्तसिन्धोः सकलमनःप्रियं नेमिचन्द्रेण धीराः।”—पृष्ठ ४१०

एवं दूषित ग्रन्थों का शीघ्र से शीघ्र बहिष्कार करना चाहिए। ऐसे ग्रन्थों को जैन शास्त्र अथवा जिनवाणी मानना महामोह का विलास है। यह ग्रन्थ 'चर्चासागर' से भी अधिक भयंकर है, क्योंकि इसकी गोमुखव्याघ्रता बढ़ी हुई है और इसलिये ऐसे ग्रन्थों के सम्बन्ध में और भी ज्यादा सतर्क एवं सावधान होने की जरूरत है।

हाँ, अब प्रश्न यह होता है कि ऐसे उभयभ्रष्ट, अतीव दूषित और महा आपत्ति के योग्य ग्रन्थ को आचार्य कहे जाने वाले शान्ति सागर जी ने कैसे पसंद किया, क्योंकि अपनाया और किस तरह वे उसकी प्रशंसा तथा सिफारिश करने बैठ गये? इसका कारण एक तो यह हो सकता है कि शान्तिसागर जी ने इस ग्रन्थ को पढ़ा नहीं, वैसे ही अपने शिष्य एवं मुख्य गणधर पं० नन्दनलाल जी के कथन पर विश्वास करके और उन्हीं से दो चार बातें इधर-उधर की सुनकर वे इसके प्रशंसक बन गये हैं। दूसरा यह हो सकता है कि उन्होंने इस ग्रन्थ को पढ़ा तो जरूर है परन्तु उनमें खुद ग्रन्थ साहित्य को जाँचने, परीक्षा करने और उस पर से यथार्थ वस्तु स्थिति को मालूम करने अथवा सत्यासत्य का निर्णय करने आदि की कोई योग्यता न होने से (योग्यता की यह त्रुटि उनके आचार्य पद के लिये एक प्रकार का दूषण होगा) वे उक्त पंडितजी के प्रभाव में पड़कर यों ही एक साधारण जन की तरह इसे अपनाने लगे हैं। और यदि इन दोनों में से कोई कारण नहीं है तो फिर तीसरा कारण यह कहना होगा कि शान्तिसागर जी भी ग्रन्थकार तथा अनुवादक के रंग में रंगे हुए हैं, उन्हीं के आचार-विचार एवं प्रवृत्ति को पसन्द करते हैं और भट्टारकी चलाना चाहते हैं। अन्यथा, ग्रन्थ को अनुवादसहित पूरा पढ़ने और उसके गुण-दोषों के जाँचने की यथेष्ट योग्यता रखने पर वे कदापि इस ग्रन्थ को न अपनाते और न अपने संघ में इसका प्रचार होने देते। प्रत्युत इसके, इतना झूठा, कपटी, बनावटी तथा स्वेच्छाचारमय अनुवाद प्रस्तुत करने के उपलक्ष में अपने शिष्य पं० नन्दनलाल जी को कभी का संघबाह्य किये जाने का दण्ड देते। जहाँ तक मैं समझता हूँ पहले दो कारणों की ही अधिक संभावना है और इसलिये समाज का यह खास कर्तव्य है कि वह आचार्य महाराज जी को इन परीक्षा लेखों का पूरा परिचय कराए, ग्रन्थ की असलियत को समझाए और उनसे अनुरोध करे कि वे इस विषय में अपनी भूल को सुधारें, अपनी पोजीशन को साफ करें और अपने उक्त शिष्य (वर्तमान क्षुल्लक ज्ञानसागरजी) को इस महा अनर्थ के कारण खुला प्रायश्चित्त लेने के लिये बाध्य करें। यदि वे यह सब कुछ करने कराने के लिये तैयार नहीं होते हैं तो समझना होगा कि तीसरा कारण ही उनकी इस सब प्रवृत्ति का मूल है—वे पं० नन्दलाल जी जैसों के हाथ किसी तरह बिके हुए हैं। और तब समाज को उनके प्रति अपना जो कर्तव्य उचित जँचे उसे निश्चित कर लेना होगा। इस विषय में इस समय और कुछ भी अधिक कहने की जरूरत नहीं समझता।

अन्त में सत्य के उपासक सभी जैन विद्वानों तथा अन्य सज्जनों से मेरा सादर निवेदन और अनुरोध है कि वे इच्छानुसार लेखक के इन परीक्षा लेखों की यथेष्ट जाँच करते हुए इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में अपनी स्पष्ट तथा खुली सम्मति प्रकट करने की कृपा करें। यदि परीक्षा से जिस पर मुझे विश्वास

है उन्हें भी यह ग्रन्थ ऐसा ही सदोष, निःसार, अनर्थकारी तथा जैनशासन को मलिन करने वाला जँचे तो समाज हित की दृष्टि से उनका यह मुख्य कर्तव्य होना चाहिए कि वे इसके विरुद्ध अपनी जोरदार आवाज उठाएँ और समाज में इसके विरोध को उत्तेजित करें, जिससे धूर्तों की; की हुई जैनशासन की यह मलिनता दूर हो सके। इस समय उनका मौन रहना ठीक नहीं होगा, वह ऐसे अनेक अनर्थकारी ग्रन्थों को जन्म देगा अथवा उन्हें प्रकाशित कराने में सहायक बनेगा और उससे समाज की बहुत-सी शक्ति का दुरुपयोग होगा। यह ग्रन्थ 'चर्चासागर' का बड़ा भाई है और, जैसा कि मैंने ऊपर प्रकट किया है, इसकी गोमुखव्याघ्रता उससे बड़ी चढ़ी है, जिसके कारण समाज को इससे अधिक हानि पहुँचने की संभावना है, ऐसे ही ग्रन्थों की बदौलत हमारे कितने ही संस्कार एवं आचार-विचार भट्टारकीय हो रहे हैं, जिन्हें बड़े प्रयत्न के साथ सुधारना होगा। अतः इसका विरोध एवं बहिष्कार चर्चासागर से भी अधिक होना चाहिए। जो सज्जन इस सम्बन्ध में अपनी सम्मति मेरे पास भेजने की कृपा करेंगे अथवा इसके विरोधी प्रस्तावों को जैन मित्र, जैन जगत या वीर पत्र में प्रकाशित कराएँगे उन सबका मैं विशेष आभारी होऊँगा। इत्यलम्॥

सरसावा, जिला सहारनपुर

ता० ०६-०१-१९३३

जुगलकिशोर मुख्तार

